ओ३म्

जैनियों के १११ प्रश्नों का

वैदिक प्रमाणों के साथ

युक्तियुक्त उत्तर

लेखक

श्री स्वामी आत्मानन्द जी

(भू० पू० श्री प० मुक्तिराम जी उपाध्याय)

आचार्य संस्थापक गुरुकुल रावल, रावलपिंडी

प्रकाशक

श्री म० कृष्ण जी मंत्री,

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर

प्रथम संस्करण ५००] १६४४ [मूल्य १।।)

कुछ निवेदन

लगभग दो मास हुए हमारे पास एक ट्रैक्ट जिसका शीर्षक है—"भूमण्डल के समस्त आर्य समाज से १११ प्रश्न" अम्बाला के जैनी भाइयों का भेजा हुआ आया। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि आर्यसमाज अपने आरम्भ काल से ही सत्यासत्य विवेक के लिए शास्त्रार्थ अथवा प्रश्नोत्तर के लिये सन्नद्ध रहा है और है। (हम लेखक महोदय से यह आग्रह अवश्य करेंगे कि लेख लिखते समय सभ्यता को हाथ से न जाने देना चाहिए। दूसरा निवेदन यह है कि जिस समाज के व्यक्तियों से शास्त्रार्थ अथवा प्रश्नोत्तर किये जावें, उसके सामने प्रमाण के रूप मे उसके प्रमाण रूप से मान्य ग्रंथ ही उपस्थित करने चाहिये। इन प्रश्नों के प्रश्नकर्ता ने इन प्रश्नों में ऐसे बहुत से प्रमाण उद्धृत कर दिये हैं जिन्हे आर्य समाज नहीं मानता।) अत: भविष्य में इसका ध्यान रखना चाहिए अन्यथा उत्तर देना अनावश्यक समझा जावेगा। तीसरी बात यह है कि इन उत्तरो के साथ २ जो हमने जैन धर्म पर प्रश्न किए हैं पहिले उनका सप्रमाण यथावत् उत्तर देकर फिर और प्रश्न करने चाहिये अन्यथा हम भी उत्तर देने के लिए बाध्य होंगे।) हमने इन सब प्रश्नों के उत्तर सप्रमाण दिए हैं। साम्प्रदायिक भावना को दूर कर सब सज्जन इनके यथावत् मनन की चेष्टा करेंगे यह हमें पूर्ण आशा है।

आत्मानन्द

गुरुकुल रावल
रावलपिण्डी

आवश्यक निवेदन तथा धन्यवाद

लेखबद्ध शास्त्रार्थ और प्रतिपक्षियों का शंका समाधान

आर्य भाइयों की चिरकाल से इच्छा थी कि सभा की ओर से मौखिक प्रचार के साथ २ लेख द्वारा समय-समय पर वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रतिपक्षियों की ओर से किये गये प्रश्नों का उत्तर तथा शंका समाधान भी प्रकाशित कर के प्रचार आन्दोलन को प्रगति दी जाय। सभा ने ई० सन १९४३ मे इस कार्य के लिये ४००) स्वीकार किया था। सभा के अहोभाग्य से आर्यसमाज के अद्वितीय दार्शनिक विद्वान श्री स्वामी आत्मानन्द जी ने जैनियों के १११ प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर लिख कर सभा के पास भेजा। सभा ने १९४३ अक्तूबर में यह प्रकाशन कार्य आरम्भ कर दिया। परन्तु कई अनिवार्य कारणों से यह कार्य शीघ्र समाप्त नहीं हो सका। अब यह कार्य समाप्त हो गया है। १११ प्रश्नों के उत्तर प्रकाशित किये जा रहे है। उत्तर देते हुए श्री स्वामी आत्मानन्द जी (पूर्व नाम प० मुक्तिराम जी उपाध्याय) ने वेदमन्त्रों की व्याख्या के साथ साथ आर्य समाज के सिद्धान्तों का भी विशद निरूपण किया है। मैं सभा की ओर से श्री स्वामी आत्मानन्द जी का हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर सभा को वैदिक धर्म प्रचार के कार्य मे सहयोग दिया है।

सभा इस क्रम को जारी रखेगी आशा है अन्य आर्य विद्वान भी इसी प्रकार से विविध विषयो पर विपक्षियो द्वारा की गई शंकाओं का समाधान करेंगे सभा उन्हे सहर्ष मुद्रित तथा प्रकाशित करने की व्यवस्था करेगी।

भीमसेन
सभा मन्त्री

अक्तूबर १९४३]

भूमण्डल के समस्त आर्यसमाज से १११ प्रश्न

और उनका उत्तर

१—महाप्रलय के पश्चात् और सृष्टि होने के पूर्व (न व्योमा) ऋ० मं० १० सू० १२६। आकाश नहीं था। इस प्रकार श्रुति आकाश का निषेध करती है और जब कि श्रुति आकाश का निषेध करती है तब आपके माने हुये अनादि तीन पदार्थ अर्थात ब्रह्म, जीव और प्रकृति कहा रहे? लिखिये तीनों की सिद्धि में क्या प्रमाण है? प्रमाण

१ (क) आकाश तो प्रलयकाल में था। परन्तु व्यवहार न होने के कारण नहीं के बराबर था। व्यवहार के न होने में कारण है व्यवहार करने वालों का अभाव। अतः प्रलय काल में आकाश था और जीव आ प्रकृति उसी में विद्यमान थे। ब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक परिपूर्ण सदा विद्यमान है ही।

(ख) द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥

ऋ० म० १ सू० १६४ मं० २०

भावार्थ—एक पालक और एक पालित दो एक ही पालन के साधन से सम्बन्द्ध हैं। उनमें से एक कर्मफल को भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ उस भोग को प्रकाश में लाता है। इस प्रकार इस प्रमाण से जीव प्रकृति और ईश्वर इन तीनों की सिद्धि होती है।

२—आकाश तो था परन्तु उस समय उसका व्यवहार नहीं था, यदि आप ऐसा कहें सो भी ठीक नहीं क्योंकि जब कि आप अनादि नित्य तीन पदार्थ मानते हैं तब व्यवहार का होना क्यों नहीं और किस प्रकार निषेध कर सकते हैं? यदि कर सकते हैं तो इसमें/ प्रमाण क्या?

(२) अनादि नित्य तीन पदार्थों का होना मात्र ही व्यवहार में साधन नहीं है। जो जीव शरीरधारी व्यवहार करने वाले हैं उनका होना भी तो आवश्यक है और वे उस समय थे नहीं तो फिर बतलाइये व्यवहार कौन करता।

३—अनादि नित्य तीन पदार्थों को मानते हुये भी आकाश के व्यवहार का निषेध करना इस बात को सिद्ध करता है कि आप अनादि नित्य पदार्थों को नहीं मानते। यदि मानते हैं तो इसमें प्रमाण क्या?

(३)(अनादि नित्य तीन पदार्थों की सत्ता)में आकाश के व्यवहार का न होना बाधक क्यों है? इसमें न तो कोई प्रमाण आपने दिया है और न दिया जा सकता है।

अब इस आकाश के सम्बन्ध में ही हम भी आपसे कुछ पूछ लें। आप दो आकाश मानते हैं, एक लोकाकाश—और दूसरा अलोकाकाश। लोकाकाश मे बद्ध जीव रहते हैं और अलोकाकाश मे मुक्त जीव। यों तो आकाश एक ही है परन्तु उसका कुछ भाग लोकों के मध्य मे है और कुछ बाहर अत: आप इसे दो भागो मे बाट देते हैं। अलोकाकाश को आप मुक्तात्माओं के रहने योग्य समझते हैं और लोकाकाश को नहीं क्यों? यदि आप कहें कि इस आकाश में वासना तरङ्गों का सञ्चय है और उसमें नहीं तो यह बात असम्भव है। भारत से उठी हुई शब्द की एक तरंग पृथिवी के दूसरी ओर अमेरिका मे तत्काल ही पहुँच जाती है। और इसी प्रगति से जहा तक भी आकाश की सत्ता है वहा तक उसका पहुँच जाना वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध है। और जब कि शब्द धाराए सम्पूर्ण आकाश में फैली हुई हैं तो वासनातरंगे तो उनसे भी सूक्ष्म हैं और उनका भी अलोकाकाश में भी फैले रहना स्पष्ट सिद्ध है। अब कृपया बतलाइये कि लोकाकाश और अलोकाकाश मे भेद क्या है? ([illegible])

दूसरी बात यह है कि आप लोकाकाश और अलोकाकाश के मध्य में एक सिद्ध शिला मानते हैं। कृपया बतलाइये कि यह मैजिनट लाइन किस लिये प्रस्तुत की गई है क्या इस लिये कि अलोकाकाश के मुक्त जीव लोकाकाश में न जा सकें। यदि यह बात है तो श्रीमान जी फिर तो बड़ा अनर्थ होगा।(आपके नित्य सिद्ध अर्हत मुनि भी आपकी पूजा

स्वीकार करने के लिये, आपको स्तुतियें सुनने के लिये और आपको सहायता करने के लिये/लोकाकाश में न आ सकेंगे। और यदि वे आसकेंगे तो और मुक्त के आने में क्या प्रतिबन्ध है। कृपया यह भी बतलाइये कि यह सिद्धशिला जीव की अपेक्षा स्थूल तत्व से निर्माण की गई है या सूक्ष्मतत्व से। यदि स्थूल से तो सूक्ष्म का स्थूल में से पार हो जाना कोई कठिन नहीं। और यदि सूक्ष्म तत्व से तो स्थूल की गति में सूक्ष्म प्रतिबन्धक होता ही नहीं। और यदि इसका प्रयोजन मुक्त जीवों को लोकाकाश में आने से रोकना नहीं है तो कृपया बतलाइये इसका क्या प्रयोजन है ?।

४—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ११७ में सृष्टि विषय में लिखा है (नो सदासीत्तदानीं०) उस काल में (सत) अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था (नासीद्रजो०) उस समय परमाणु भी नहीं थे। और सत्यार्थ प्रकाश मन्तव्य ६ में प्रकृति को अनादि नित्य लिखा है। अब बतलाइये कि इन दोनों में कौन सी बात सत्य और कौन असत्य है ? *प्रमाणान्*

४ सत्यार्थ प्रकाश के मन्तव्य ६ में प्रकृति को अनादि लिखा है। और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के सृष्टि प्रकरण में भी प्रकृति को अनादि ही माना है। देखिये (किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमं कारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत)(ऋ० भा० भू० पृ० ११६) इस सारे जगत् का अत्यन्त सूक्ष्म कारण जोकि परब्रह्म की शक्ति कहा जाता है वह उस समय था। जिस प्रकृति में सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का विकास हो चुका है, यद्यपि वह अव्यक्त है=स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं है तथापि मूलकारण की अपेक्षा स्थूल है इसी प्रधान के लिये भूमिका में "नासत्" लिखा है। मूलकारण यह है जिसमें तीनों गुण—सम अवस्था में होने के कारण पृथक् नहीं भासते वह एक रूप सूक्ष्म कारण रूप ही उस समय है। उसी को उपनिषदों में माया अविद्या और ब्रह्म की शक्ति नाम से कहा है। और उसी को भूमिका में ईश्वर की सामर्थ्य कहा है। वह नित्य है इसलिये सत्यार्थ प्रकाश और भूमिका में यहां कोई विरोध नहीं है।

५—महाप्रलय की श्रुति में लिखा है कि (अमृतम्) जीव (न) नहीं (आसीत्) था और सत्यार्थ प्रकाश के मन्तव्य ६ में श्रुति के विरुद्ध जीव को अनादि नित्य बतलाया है। अब बतलाइये कि दोनों में कौन सी बात सत्य है ?

५ जिस श्रुति का आपने इस प्रश्न में नाम लिया है वह यह है—"नमृत्युरासीदमृतं न तर्हि" इस का अर्थ है (उस समय मृत्यु और मोक्ष न था) अर्थात् इन दोनों का व्यवहार न था। जब शरीरधारी जीव ही न थे तो मृत्यु और मोक्ष का व्यवहार कैसा। क्योंकि मृत्यु और मोक्ष जीव के शरीर से वियोग के नाम हैं और शरीर उस समय थे नहीं। मृत्यु के साथ आये हुए अमृतपद का अर्थ जीव कर जनता को कितना धोखा दिया गया है इसे पाठक स्वयं अनुभव करें।

अब इस जीव के विनाश के प्रसङ्ग में हम भी आपसे कुछ पूछ लें। क्या यह प्रश्न करते समय आपका अपना सिद्धान्त तो आपके हृदय में चक्र नहीं काट रहा था। आपके सिद्धान्त में जीव की जो दुर्दशा है सम्भवतः वह ही प्रश्न करते समय आपके मन में झलक रही हो। (आपके यहां न तो जीव का कोई निश्चित परिमाण है और न उसकी कोई निश्चित स्थिति) मनुष्य के शरीर से चींटी के शरीर में जाते समय उसे सिकुड़ कर छोटा बनना पड़ता है। और चींटी के शरीर से हाथी के शरीर में जाते समय फैलना पड़ता है। फैलते समय यदि उसमें और अवयव मिलाने पड़े तब भी पहिले जीव का नाश और दूसरे की उत्पत्ति हुई। और यदि वे ही अवयव दूर २ होकर फैल गये तब भी अवयवों का सयोग नष्ट हो गया और इसी लिये जीव नष्ट हो गया। क्या घड़े के अवयव दूर २ हो जाने पर घड़ा बना रह जावेगा ?। कहिये आप अपने सिद्धान्त के अनुसार जीव को नित्य किस प्रकार सिद्ध करते हैं ?।

६—सत्यार्थ प्रकाश के मन्तव्य ६ में अनादि नित्य पदार्थ तीन अर्थात् ब्रह्म जीव और प्रकृति लिखे हैं और काल को अनादि नित्य नहीं माना तब काल के अनादि नित्य न मानने से तीन मौजूद थे, ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं। यदि कह सकते हैं तो इसमें प्रमाण क्या ?

६ शून्य आकाश काल और दिशाये तीनों व्यवहारसिद्ध पदार्थ है। (सृष्टि रचना में विशेष कारण नहीं) सृष्टि रचना में ईश्वर का कर्ता रूप से, जीव का भोक्ता रूप से और प्रकृति का उपादान रूप से उपयोग है। अत विशेष कारण ये तीनों ही हैं। (आकाश तो जब यह जगत परमाणु रूप में था तब भी आधार था और जब अब जगत् रूप में है तब भी उसी प्रकार आधार है यह ही दशा काल की भी है) इन दोनों में दोनों अवस्थाओं मे कोई विशेषता नहीं है। परन्तु प्रकृति उस समय परमाणु रूप थी अब स्थूल रूप हो गई। जीव उस समय कर्मफल भोग नहीं रहा था, अब भोग रहा है। ईश्वर उस समय इस जगत् का निर्माण और पालन नहीं कर रहा था अब कर रहा है। अत तीनों तत्व सृष्टि निर्माण में विशेष कारण है। अत इन्हीं तीनों को अनादि नित्य नाम से कहा है। शून्य आकाश, काल और दिशा क्योंकि व्यवहार सिद्ध पदार्थ हैं और व्यवहार उस समय था नहीं अत. नहीं के बराबर थे इसी लिये (उनकी अनादि नित्य पदार्थों में गणना नहीं की गई यद्यपि हैं वे भी अनादि) काल का व्यवहार न होने पर भी ब्रह्म जीव और प्रकृति की सत्ता में कोई बाधा नहीं।

७—सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास के प्रारम्भ में लिखा है कि (इतो वा इमनाति भूतानि जायन्ते) जिस परमात्मा की रचना मे सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते है जिससे जीव उत्पन्न होकर जीते है और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं वह ब्रह्म है। तब सत्यार्थ प्रकाश के मन्तव्य ६ के अनुसार जीव, ब्रह्म, प्रकृति तीनों ही अनादि नित्य पदार्थ मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। अब बतलाइये कि सत्यार्थ प्रकाश का कहना सत्य है या श्रुतिका ?

७ जिस श्रुति को आपने इस प्रश्न में उद्धृत किया है वह यह है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्य भिसविशन्ति" इसका अर्थ यह है। जिससे ये पृथिवी आदि भूत उत्पन्न हुए २ जिसकी सहायता से जीते हैं, स्थिर रहते हैं अथवा रक्षा पाते हैं, और फिर अन्त में जिसके अन्दर चले जाते हैं वह ब्रह्म है। सत्यार्थ-प्रकाश की भाषा यह है—"जिस परमात्मा की रचना से ये पृथिवी

आदि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीवें और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं वह ब्रह्म है उसके जानने की इच्छा करो। कहिये श्रीमान् जी यहां जीव की उत्पत्ति कहां लिखी है। क्या जनता को धोखा देना भी आपका सिद्धान्त है।

८—जिस समय आकाश उत्पन्न नहीं हुआ था (त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुष यजुर्वेद ३१-४) तब ब्रह्म के तीन हिस्से उड कर ऊपर अधर जा लटके। अब बतलाइये कि बिना आकाश के उस ब्रह्म के तीन हिस्से उड़ कर ऊपर किस प्रकार गये और कितनी ऊंचाई तक गये और फिर उनका क्या हुआ? इसे प्रमाण सहित लिखिये।

९—(पादोऽस्येहाभवत्पुनः यजुर्वेद ३१-४) उस ब्रह्म का एक हिस्सा यहां रह गया जिससे खाने वाले चेतन और खाने योग्य अचेतन अर्थात् जड़ ऐसे दोनों उत्पन्न हुए। अब आप बतलावें कि चेतन ब्रह्म से जड पदार्थ की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और इसमें प्रमाण क्या?

८—९ आपने आठवां और नवां दोनों प्रश्न एक ही मन्त्र के आधार पर किये हैं।(आपका भ्रम दूर करने के लिये उस मन्त्र का अर्थ हम यहां किये देते हैं)। मन्त्र यह है - त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विश्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥ यजु० ३१।४) (पुरुष) उस परम पुरुष के (त्रिपाद) तीन अंश (ऊर्ध्व) लोकों से बाहर (उदैत्) प्रकाशमान हैं (अस्य पुनः पाद इह) और इसका एक अंश यहां लोकों में है। (ततः) इसलिये वह (साशनानशने) भोक्ताओं और भोग्यों में— अभि व्यक्रामत्) व्याप्त हो रहा है। मन्त्र का भाव गर्भित शब्दार्थ हमने ऊपर लिख दिया है। चेतन से जड़ की उत्पत्ति का विधान इसमें कहीं भी नहीं है और यदि हो भी तब भी चेतन जड की उत्पत्ति में निमित्त कारण हो सकता है जैसा कि हम मानते भी हैं और निमित्त कारण के गुणों का कार्य में आना आवश्यक नहीं।(जैसे कि कुम्हार का चैतन्य गुण घडे में नहीं आता)। आपने ब्रह्म के तीन पादों के अधर जा लटकने की बात की है (इस मन्त्र में तो ब्रह्म को भोक्ता और भोग्य सब में और उससे बाहर भी जहां लोक नहीं व्यापक कहा है)। यह स्पष्ट किया गया है कि यह सारा ही जगत केवल उतने देश में है जितने में कि

ब्रह्म का एक अंश । इस प्रकार ब्रह्म को इस मन्त्र में सर्व व्यापक बतलाया है । अब उसके लिये तो अधर जा लटकने का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता । प्रतीत होता है कि यह बात आपके अपने सस्कारों की उपज है । आपके सिद्धान्त के अनुसार आपके अर्हन्त मुनि सिद्धशिला के उस पार अलोकाकाश मे अधर ही लटके हुए हैं । उन विचारों को आपकी प्रार्थनाओं और स्तुतियों को दूर से सुनते हुए भी आपकी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये चाहते हुए भी नीचे आने का अधिकार ही नहीं है । कहिये आपका परमात्मा अधर लटका हुआ है या हमारा ।

१०—ब्रह्म के तीन हिस्से तो ऊपर अधर जा लटके और एक हिस्से से (ततो विराट् अजायत यजुर्वेद ३१–५) विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ । अब आप बतलावे कि बिना स्त्री पुरुष के यह विराट् पुरुष किस प्रकार उत्पन्न हुआ और यह सृष्टिक्रम के अनुकूल है या प्रतिकूल ? लिखिये ।

१०—इस प्रश्न को करते समय तो आपने अपने सारे ही पाण्डित्य का परिचय दे दिया है । आप डींग तो मारते हैं वेद के ज्ञाता होने की और भाव नहीं समझ सकते वेद के सरल भाष्य का भी । जिस मन्त्र के आधार पर आपने पुरुष की उत्पत्ति बतलाई है, और पूछा है कि वह बिना मात पिता के कैसे उत्पन्न हुआ, उसमें पुरुष की उत्पत्ति का गन्ध भी नहीं है । उसका अर्थ हम आपके समझाने के लिये नीचे किये देते हैं । —

"ततो विराडजायत विराजोऽअधिपूरुषः, स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः" ।

(ततः) उस सनातन पूर्ण परमात्मा से (विराट्) यह ब्रह्माण्ड रूप संसार (अजायत) उत्पन्न हुआ (विराजः) विराट संसार के (अधि) अधिष्ठाता (पूरुषः) परम पुरुष भगवान हैं । (स जातः) वह उत्पन्न हुआ ब्रह्माण्ड (अत्यरिच्यत) उस परम पुरुष से भिन्न है (पश्चाद्भूमिम्) बाद में भूमि आदि लोकों को उत्पन्न करता है (अथोपुरः) और पहले इस विराट् नामक ब्रह्माण्ड को

गोले को। यह उस मन्त्र का अर्थ है जिसमें से आप पुरुष की उत्पत्ति निकाल रहे हैं। और उसके माता पिता पूछ रहे हैं। पुरुष की उत्पत्ति का इसमें कहीं जिक्र ही नहीं है।

११—सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास पृष्ठ २२४ में लिखा है कि आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती क्योंकि जब स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बना कर उसमें जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है इत्यादि। सो यह कथन सृष्टिक्रम के विरुद्ध है और आकाशादि के अनादि नित्य न होने से असम्भव दोष भी सिद्ध है। लिखिये आप इनको निर्दोष किस प्रकार सिद्ध करते हैं?

११—श्रीमान् जी यह बीसवीं सदी है, विज्ञान का युग है। आज मनमानी धांधली चलनी कठिन है। भूगर्भ विज्ञान बलपूर्वक वेद के इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहा है कि "यह सृष्टि कभी बनी है" सदा से ऐसी ही नहीं चली आ रही और जब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तो इसके आरम्भ में शरीरधारी प्राणियों का भगवान् की सहायता के बिना उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। जब भगवान इतने विशाल लोकलोकान्तरों को बना सकता है तो जीवों के कर्म फल भोग के लिये शरीर बना देना उसके लिये कौन सी कठिन बात है। अतः सृष्टि के मध्य मे माता पिता के बिना शरीर की उत्पत्ति सृष्टि नियम के विपरीत कही जा सकती है सृष्टि के आरम्भ मे नहीं। यह सृष्टि नियम ही है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ऐसे शरीर यन्त्र और बीज बना दें जिससे कि यह क्रम सदा चलता रहे।

१२—स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बना कर उनमे जीवों को संयोग कर देता है। यदि आपका यही श्रद्धान है तो ब्रह्म निराकार व निष्क्रिय होने से शरीरों को बना नहीं सकता और आप ब्रह्म को साकार व सक्रिय मानें तो वह एक-देशीय व अल्पज्ञ होने से जगत की रचना भी नहीं कर सकता। अब बतलाइये कि उसे शरीरों को बनाने वाला किस प्रकार सिद्ध करते हैं?

१२—ब्रह्म निराकार है और वह निराकार होता हुआ ही सारे ब्रह्माण्ड को बना सकता है। कोई शरीरधारी तो सदा एक देशी होगा

वह इस विशाल ब्रह्माण्ड को कैसे बना सकेगा । परन्तु सृष्टि निर्माण मे हाथ पैर आदि साधनो की आवश्यकता नही । उन साधनों की आवश्यकता उसे हुआ करती है जो एक देशी हो (ब्रह्म तो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अवयव मे विद्यमान है वह अपनी शक्ति से उस अवयव को जिस समय चाहे गति दे सकता है और अवयवों की उस गति से पदार्थों की रचना हो सकती है)। (हमारे शरीर में आत्मा भी तो निराकार है)। अपने से दूर के पदार्थो में क्रिया करने के लिये तो उसे हाथ पैर आदि साधनों की आवश्यकता होती है परन्तु अपने पास के मन और इन्द्रियो मे गति देने के लिए उस किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं । इसलिए परमात्मा निराकार है, और वह अपनी अमोघ शक्ति से जहा इतना विशाल ब्रह्माण्ड बना सका है सृष्टि के आरम्भ में जीवों के शरीर भी बना सका है ।

—सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ २०६ में (प्रश्न) क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की (उत्तर) नहीं, वह अनादि है। फिर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ १२३ में लिखा है कि उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ जिसको मूल प्रकृति कहते हैं। आगे इसी पुस्तक के पृष्ठ १३३ में लिखा है कि अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्वो के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से ले के घास पर्यन्त जगत् को रचा है इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है । अब देखिये जिस प्रकृति का आदि कारण पुरुष लिखा है फिर वह अनादि किस प्रकार सिद्ध हो सकती है। एक जगह अनादि और दूसरी जगह उसकी उत्पत्ति बतलाना इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होने से दोनों ही मिथ्या हैं लिखिये । प्रकृति के अनादि होने में क्या प्रमाण है ?

१३—इस प्रश्न में आप लिखते हैं कि सत्यार्थ प्रकाश मे प्रकृति को अनादि लिखा है और भूमिका मे उसकी उत्पत्ति लिखी है । इस प्रश्न का उत्तर हम चौथे प्रश्न के उत्तर में भी लिख आये हैं। आपको यह ध्यान रहे कि (प्रकृति नाम उपादान कारण का है, और सृष्टि की कार्य परम्परा मे अनेक उपादान कारण हैं कोई किसी कार्य का उपादान कारण है और कोई किसी का)। उन सब को ही कारण

होने से प्रकृति कहा जा सकता है। मूल प्रकृति कारण को ऋषि दयानन्द ईश्वर की सामर्थ्य या शक्ति का नाम देते है। भूमिका की जिस भाषा से आप आदि कारण प्रकृति की उत्पत्ति निकालते हैं, (वह हम नीचे लिखते हैं। —

"विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। जिस को मूल प्रकृति कहते हैं। जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य चन्द्रमा नेत्र स्थानी है"। (ऋ० भा० भू० पृ० १२२) पाठक समझ सकते हैं कि यहा विराट् को मूलप्रकृति कहा है और विराट् है प्रकृति से पैदा हुआ २ ब्रह्माण्ड का गोला। यह भी सूर्य, चन्द्र आदि लोक-लोकान्तरों का मूल है। अत इसे भी मूल प्रकृति का नाम दे दिया है। यही कारण है कि सूर्य और चन्द्रमा को इसके नेत्र कहा है। क्योंकि इसमे ये दोनों ही नेत्र की तरह प्रकाशमय लोक है। (इस विराट् की कारण यहा ईश्वर की सामर्थ्य है और यह ही सब संसार का आदि मूल, प्रधान या मूल प्रकृति है और इसे ऋषि दयानन्द ने सर्वत्र नित्य कहा है) विराट् को मूल प्रकृति सूर्यादि लोकलोकान्तरो की अपेक्षा से कहा है।

इसी प्रश्न मे दूसरी बात आपने आकाश की उत्पत्ति के बारे मे लिखी है। आकाश की उत्पत्ति ऋषि दयानन्द किस प्रकार की मानते हैं इसे हम उन्हीं के शब्दो मे नीचे उद्धृत किये देते हैं।

"उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश—अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है वास्तव मे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहा ठहर सके। (स० प्र० आ० १४ पृ० २३१) पाठक समझ गये होंगे कि यहा पर ऋषि दयानन्द ने अवकाश प्रकट होने का नाम आकाश की उत्पत्ति कहा है। इस प्रकार पहिले से ही विद्यमान आकाश की अभिव्यक्ति मानी गई है, उत्पत्ति नहीं। आकाश को उन्हों ने सर्वत्र नित्य माना है।

१४—सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ २०६ मे (द्वासुपर्णा) जो ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और ब्रह्म जीव दोनों पालनादि गुणो से

सदृश तथा परस्पर में मित्रता-युक्त म - - अनादि हैं और यजुर्वेद में लिखा है कि जीव ब्रह्म का अंश होने से अनादि नहीं है क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि यजुर्वेद ३१-३) यह सब स्थावर जंगम इस परमेश्वर का अंश है तथा गीता में भी लिखा है कि (विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् १०-४२ ।) इस तरह एक जगह जीव को अनादि और द्वितीय जगह ब्रह्म अंश बतलाना इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होने से दोनों ही मिथ्या हैं। लिखिये जीवों के अनादि होने में प्रमाण क्या है ?

१४—इस प्रश्न में आप ने जीव को ब्रह्म का अंश सिद्ध करने की असफल चेष्टा की है। इसके लिये आप ने जिस मन्त्र का आश्रय लिया है उसका अर्थ हम नीचे आप के और पाठकों के परिचय के लिये लिखे देते हैं। मन्त्र यह है "एतावानस्य महिमातोज्यायांश्चपूरुषः, पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजु ३१।३) (एतावान्) यह दृश्य और अदृश्य ब्रह्माण्ड (अस्य) इस परम पुरुष की (महिमा) सामर्थ्य है जगत् की उत्पत्ति में उपादान प्रकृति शक्ति है। (अतः) इससे (ज्यायान्) बहुत बड़ा (पुरुष) परम पुरुष भगवान है (अस्य) इस ब्रह्माण्ड रूपी सामर्थ्य के (विश्वाभूतानि) सारे पृथिवी आदि भूत (पाद) एक अंश हैं। (त्रिपात्) इस ब्रह्माण्ड के तीन अंश (अमृतम्) नष्ट न होने वाला सूक्ष्म जगत् जो कि अभी सूक्ष्म सामर्थ्य रूप ही है (अस्य) इस जगत् स्रष्टा भगवान के (दिवि) प्रकाश स्वरूप में विद्यमान है। इस मंत्र का जो अर्थ हमने ऊपर दिया है वह ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य का ही भावानुवाद है। इस मंत्र में जीव को ब्रह्म का अंश कहां लिखा है इसका पाठक स्वयं निर्णय करलें। गीता के "एकांशेन स्थितो जगत" वाक्य का भाव भी आप समझे नहीं। यदि जगत् को ब्रह्म का अंश कहना होता तो गीताकार "एकांशश्च स्थितो जगत्" ऐसा समानाधिकरण प्रयोग करते। परन्तु

ऐसा न कर तृतीया का प्रयोग करते हुए वे एकांश और जगत् का परिच्छेद्य परिच्छेदक भाव सम्बन्ध प्रकट करते हैं। इस लिये यहां ब्रह्म के एक अंश से जगत् के परिमाण पर प्रकाश डाला गया है, जगत् को ब्रह्म का अंश प्रकट नहीं किया गया। कृपया विचार पूर्वक साम्प्रदायिकता का पर्दा उठाकर पढा करें।

१४—सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास पृष्ठ २२१ मे लिखा है कि वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहा ठहर सकें इत्यादि। इस लेख मे लिखा है कि बिना आकाश प्रकृति और परमाणु कहा ठहर सके इस लिये आकाश की उत्पत्ति न मान कर उसको अनादि लिख दिया है। परन्तु (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत तैत्तिरोपनिषद २-१ ।) तिस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ और (नाभ्या आसीदन्तरिक्ष यजुर्वेद ३१-१३ ।) इस यज्ञ पुरुष की नाभि से आकाश उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वेद आकाश को अनादि न मान कर उत्पत्ति वाला बतलाता है। अब आप लिखें कि आकाश को आप अनादि किस प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं ?

१५—"आकाश को ऋषि दयानन्द नित्य मानते हैं और उसकी उत्पत्ति से तात्पर्य क्या है" यह विषय हम तेरहवें प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कर आये हैं। "तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाश सम्भूत" इस तैत्तिरीय वाक्य का अर्थ यह है कि आत्मा रूपी निमित्त कारण अर्थात् कर्ता के द्वारा आकाश प्रकट हुआ। तात्पर्य यह है कि सृष्टि निर्माण के लिये प्रभु के अभिध्यान मात्र से जब सर्वत्र फैले परमाणु जाल का संग्रह हुआ तो परमाणुओं से खाली हुआ आकाश अवकाश के रूप में प्रकट हो गया। इस प्रकार यह ऋषि वाक्य भी आकाश को अनित्य सिद्ध नहीं करता और इसी प्रयोजन के लिये जो यजुर्वेद का मन्त्र आप ने उद्धृत किया है उसका अर्थ भी हम नीचे लिखे देते हैं। मन्त्र यह है "नाभ्या-

आसीदन्तरिक्ष७ शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत पद्भ्यां भूमिर्दिश श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ' (यजु ३१ । १३) (नाभ्या) उस प्रभु की मध्य वार्ती रिक्त स्थान रूपी सामर्थ्य से (अन्तरिक्ष) आकाश (आसीत् प्रकट हुआ) (शीर्ष्ण) शिर की तरफ की उत्तम सामर्थ्य से (द्यौ समवर्तत) द्युलोक प्रकाश मयलोक उत्पन्न हुए। (पद्भ्याम्) पैरों की तरह की तमोगुण प्रधान प्रकृति से (भूमि) पृथिवी (श्रोत्रात्) श्रोत्र की तरह की अवकाश सामर्थ्य से (दिश) दिशाए (तथा) और इसी प्रकार (लोकान) अन्य लोको की (अकल्पयन्) कल्पना की गई।

इस मन्त्र में आये हुए कल्पना शब्द से स्पष्ट है कि यह लोको की उत्पत्ति का आलङ्कारिक वर्णन है। इन लोकों की कारण प्रकृति के अशों की अङ्गों के साथ कुछ समता के कारण, ब्रह्म के अङ्गों की कल्पना करके उनके साथ उपमा दी गई है। इस मन्त्र में भी आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है। इस लिये आकाश को न वेद अनित्य मानता है और ऋषि दयानन्द। यहा परमाणु से खाली हुआ स्थान ही आकाश के रूप में प्रकट हुआ है।

१६—इस पुरुष की नाभि से आकाश उत्पन्न हुआ ऐसा यजुर्वेद का कथन है और पुरुष चेतन व निराकार है फिर समझ में नहीं आता कि चेतन निराकार की नाभि से आकाश जड़ पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ और नाभि शरीर में बहुत छोटी चीज है फिर उससे अनन्त आकाश किस प्रकार निकला और जब तक आकाश नाभि से नहीं निकला था तब तक वह पुरुष आकाश के बिना कहा रहा था ? लिखिये। पुरुष की सिद्धि में क्या प्रमाण है ?

१६—इस प्रश्न का उत्तर पन्द्रहवें प्रश्न के उत्तर मे पढिये।

१७—आर्योद्देश रत्नमाला पृष्ठ ७७ में जीव का स्वरूप लिखा है कि जो चेतन अल्पज्ञ इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान गुण वाला तथा नित्य है वह जीव कहाता है। सो यह जीव का

स्वरूप ठीक नहीं। क्योंकि योगदर्शन के भाष्य में व्यास जी ने लिखा है कि (सर्वथा सर्वदा सर्वभूतेषु-अनभिद्रोह अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से सब भूतों में अनभिद्रोह अर्थात द्वेष का त्याग सो अहिंसा है और आपने द्वेष जीव का स्वरूप बतलाया है फिर अहिंसा धर्म न होने से प्रयत्न करना भी व्यर्थ है और जिनका द्वेष स्वभाव है ऐसे हिंसकों की मुक्ति हो ही नहीं सकती। अब बतलावें कि वास्तव में जीव का स्वरूप क्या है?

१७—जीव के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। राग द्वेष आदि शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण नैमित्तिक हैं। ये निमित्त के रहने तक रहते हैं और उसके न होने पर नष्ट हो जाते हैं। आर्योद्देश्यरत्नमाला में स्वाभाविक और नैमित्तिक गुणों को इकट्ठे ही गिनाया गया है। इस लिये द्वेष आदि जीव के स्वाभाविक गुण नहीं है और इसी लिये दोष कुछ नहीं आता।

१८—सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ७ पृष्ठ १९३ में ईश्वर, जीव दोनों चेतन स्वरूप हैं, स्वभाव दोनों का पवित्र अविनाशी और धार्मिकता आदि को लिये हुए हैं और बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि (विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थायतान्येव न विनश्यति न प्रेतसंज्ञास्तीति इति १४-५-४-१२।) इस तरह आप जीव को चेतन व अविनाशी बतलाते हैं और श्रुति भूतचतुष्टय से जीव की उत्पत्ति बतलाती है। अब बतलावें कि आप का कहना सत्य है या श्रुति का?

१८—"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति" इस बृहदारण्यक के वाक्य का अर्थ यह है यह विज्ञान राशिभूतों के सम्बन्ध से पैदा होती है और उनका सम्बन्ध टूट जाने पर या नाश हो जाने पर नष्ट हो जाती है। प्रलय और मुक्ति में विषयों का सम्बन्ध न रहने से यह विषय विज्ञान भी नहीं रहता। प्रलय में विषय नष्ट हो जाते

हैं और मुक्ति मे विषयों से आत्मा का सम्बन्ध नहीं रहता, इस लिये दोनों ही अवस्थाओं में भूतों के सम्बन्ध से होने वाला जीवात्मा का नैमित्तिक ज्ञान नष्ट हो जाता है, स्व ममग्र उमका अपना स्वाभाविक ... ... रह जाता है। इसीलिये आगे चल कर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है "विज्ञातार मरे केन विजानीयात्" (ज्ञाता आत्मा को हे मैत्रेयि और किस साधन से जाने) तात्पर्य यह है। मोक्ष अवस्था में विषयों का सम्बन्ध तो रहता नहीं अत विषयों का कोई ज्ञान नहीं होता। केवल आत्मा ही रह जाता है और वह है स्वय ज्ञाता अब उसके जानने वाला कौन और ज्ञान का साधन कौन (अत वह अपने ही ज्ञान से स्वय ही प्रकाशित होता है। इसलिये इसी प्रसङ्ग के इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध है कि मोक्ष अथवा जन्मान्तर में विषय विज्ञान का नाश होता है आत्मा का नहीं। अत उपनिषद् और ऋषि दयानन्द, आत्मा की नित्यता के बारे मे एक मत हैं। आप का यह प्रश्न ज्ञान मूलक नहीं है।

१६—सत्यार्थ प्रकाश के मन्तव्य १ में लिखा है कि ईश्वर सर्वज्ञ है और यजुर्वेद अध्याय ३१ मत्र ३ में लिखा है कि (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन) उस ब्रह्म के तीन हिस्से तो बढ कर ऊपर अधर जा लटके और एक हिस्से से स्थावर जगम रूप ससार हुआ। अब बतलावे कि आप सर्वज्ञ के गुण उस ब्रह्म के एक हिस्से में मानते हैं या तीन में ?

१६—इस प्रश्न के उत्तर के लिये आठवे प्रश्न का उत्तर पढ़िये।

२०—ईश्वर न्यायकारी है इत्यादि। यह कहना भी मिथ्या है क्योंकि जो जीव हिंसा करते हैं, मदिरा पीते हैं, मास खाते हैं और परधनहरण आदि अन्याय रूप कार्य करते हैं उन्हे सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ होने पर भी वह क्यों नहीं रोकता ? और जब वे चोरी आदि कार्य कर लेते हैं तब उन्हें दण्ड देता है इस लिये सर्वशक्तिमान आदि गुण होने पर भी नहीं रोकता यही

ईश्वर का अन्याय है। अब लिखिये कि आप ईश्वर ...यकारी किस प्रकार सिद्ध करते हैं ?

२०—जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल भोगने में परतन्त्र है कर्म करने वाला जीव है और उसे उसका फल देने वाले भगवान हैं। सृष्टि के आरम्भ में ही भगवान ने मनुष्य को कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान करा दिया है, जो कि वेद ज्ञान के रूप में है। जो कार्य करने चाहियें और जो - करने चाहियें उन सबका इस ज्ञान में सूत्र रूप से उल्लेख है। यह भी बतला दिया गया है कि कर्तव्य कर्म करने से सुख मिलेगा और निषिद्ध कर्म करने से दुःख। इतना उपदेश करने पर भी जो मनुष्य निषिद्ध कर्म करते हैं उन्हें नियमानुसार दण्ड मिलना ही चाहिये और यह दण्ड भी भविष्य में निषिद्ध कर्म न करने के लिये चेतावनी का काम देता है। कर्म करते हुए किसी जीव को रोकना उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना है और यह अन्याय है। आप ही बतलाइये आप का नित्य सिद्ध सर्वज्ञ अर्हन् मुनि धोखेबाजी और फरेब से दूसरों का धन अपहरण करने वाले किसी अपने अनुयायी को अपनी सिद्धि के प्रभाव से ऐसा कुकर्म करने से क्यों नहीं रोकता और यदि नहीं रोकता तो क्या वह इस पाप का भागी नहीं और यदि भागी है तो वह इस पाप के भार से लोकाकाश में क्यों नहीं आ गिरता।

२१—ईश्वर सृष्टि का कर्ता है इत्यादि। यह बात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि प्रथमवार के सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २५३ में लिखा है कि उस समय एक सच्चिदानन्द परमेश्वर ही था और जगत लेशमात्र भी नहीं था और जगत बनने से पूर्व (न व्योमा म० १० सु० १२६) आकाश भी नहीं था। तब आप बतलावें कि बिना आकाश के आपके माने हुये तीन पदार्थ कहा ठहरे और ईश्वर ने

बिना साधनों के सृष्टि को किस प्रकार बनाया ?

२१— प्रलय काल में जगत् लेशमात्र भी न था" यह कथन ठीक ही है। वहां जगत् था भी कहां वह तो अपनी प्रकृति में लीन हो चुका था। केवल भगवान की सामर्थ्य नामक सूक्ष्म प्रकृति थी और उसका यहां निषेध नहीं किया गया। जगत् जो कि प्रकृति का स्थूल रूप है उसका निषेध किया गया है। आकाश के बारे में हम पहिले भी लिख आये हैं कि आकाश प्रलय काल में था, परन्तु उसका व्यवहार होने से वह नहीं के बराबर था।

२२—ईश्वर सृष्टि का प्रलय कर्त्ता है इत्यादि। आपका ऐसा कहना भी असत्य है, क्योंकि ईश्वर दयालु, सर्वज्ञ व न्यायकारी तथा सब जीवों का हितकर्त्ता होने से सृष्टि का प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता है और जो सृष्टि का प्रलयकर्त्ता है वह हिंसक होने से ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो प्रमाण सहित लिखिये।

२२—भगवान ने सृष्टि को प्राणियों के कर्मों का फल देने के लिये बनाया है। जब इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और भोग देने के योग्य नहीं रहती, और प्राणी भी लम्बे काल की कार्य परम्परा में चलते हुए विश्रान्त हो जाते हैं, उस समय जैसे कि किसान शक्ति सञ्चय के लिये खेत को एक साल के लिये छोड़ देता है, और जैसे दिन में थके हुए प्राणियों की थकावट दूर करने के लिये रात्रि आ-जाती है ठीक इसी प्रकार प्रकृति को शक्ति देने और प्राणियों को विश्राम देने के लिये प्रलय नामक महारात्रि आती है। यदि किसी को वर्तमान से अच्छी अवस्था में पहुचाना भी हिंसा है तो दया न जाने किसका नाम होगा धन्य हो तार्किक शिरोमणि !

२३—ईश्वर सब जीवों को कर्मानुसार फल देता है इत्यादि। यह भी मानना मिथ्या है क्योंकि (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्ये-हाभवत्पुन । यजुर्वेद ३१—४) उस यज्ञ पुरुष के तीन हिस्से तो उड़ कर ऊपर अधर जा लटके और एक हिस्सा यहां रह गया।

अब इन दोनों मे आप व्याप्य किस को मानते हैं और व्यापक किसको ? क्योंकि जब तक व्याप्य और व्यापक की सिद्धि नहीं तब तक 'ईश्वर कर्मफल दाता है' यह क्यों कर सिद्ध हो सकता है ? लिखे कर्मफल दाता की सिद्धि मे क्या पुष्ट प्रमाण है ?

२३—इस प्रश्न का उत्तर आठवे प्रश्न के उत्तर में पढ़िये।

२४—ईश्वर सर्व व्यापक है इत्यादि। ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि व्याप्य जो जगत उसकी जब सिद्धि हो जावे तब सर्वव्यापक की सिद्धि हो सकती है। और जब कि (पुरुष एवेद सर्व यजुर्वेद ३१-२।) ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं तब व्याप्य, व्यापक का भाव किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। यदि हो सकता है तो जरा प्रमाण सहित लिखिये ?

२४—जिस यजुर्वेद के मन्त्र के आधार पर आप कार्य जगत का अभाव सिद्ध करते हैं उसका अर्थ हम नीचे लिखते हैं। मन्त्र यह है—' पुरुष एवेद सर्व यद्भूत यच्च भाव्यम। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति"। (पुरुष) सब शुभ गुणों से पूर्ण—भगवान् (एव) ही (यत् भूतम) जो उत्पन्न हुआ है (यत्–च–भाव्यम) और जो उत्पन्न होने वाला है (इद सर्वम) इस सम्पूर्ण को (यत् अन्नेन अति रोहति) जो पृथिवी आदि भाग्य पदार्थों से बढता है (स्पृत्वा अति अतिष्ठत्) रच कर अलग रहता है, (उत) और (अमृतत्वस्य) मोक्ष सुख का (ईशान) अधिष्ठाता है। "स्पृत्वा-अत्यतिष्ठत्" इन क्रिया पदों की इस मन्त्र मे पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति आई है। मन्त्र का अर्थ पढ़ कर आप समझ गये होंगे कि कार्य जगत् पृथक् है और व्यापक ईश्वर पृथक्।

२५—ईश्वर अजन्मा है इत्यादि। यदि ईश्वर सर्वथा अजन्मा ही माना जाय तो श्रुति से विरोध सिद्ध होगा क्योंकि यजुर्वेद के पुरुष सूक्त मन्त्रों मे (मुखादग्निरजायत। यजुर्वेद३१—१२। ईश्वर के मुखादि अगों का होना लिखा है और हिरण्यगर्भ व ब्रह्मा आदि नाम भी साकार ब्रह्म के श्रुतियों में मिलते हैं। फिर आप ईश्वर

को सर्वथा अजन्मा किस प्रकार सिद्ध करते हैं ?

२५—जिस वेद मन्त्र के आधार पर आप ईश्वर को मुख आदि अङ्गों वाला अनित्य सिद्ध करना चाहते हैं, उस मन्त्र को हम अर्थ सहित नीचे उद्धृत करते है। 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्नि रजायत" यजु० ३१।१२ (चन्द्रमा) चन्द्रलोक (मनस) भगवान की मनन साधन सामर्थ्य से अर्थात् प्रकृति के सत्व प्रधान अश से (सूर्य) सूर्य (चक्षो) जगत् को अभिव्यक्त करने वाले ज्योतिर्मय सामर्थ्य अश से (वायु च प्राण च) वायु और प्राण (श्रोत्रात्) अवकाश रूप सामर्थ्य से (अग्नि) और अग्नि (मुखात्) सब को खा जाने वाले=भस्म कर देने वाले मुख्य सामर्थ्य से (अजायत) उत्पन्न हुआ। यह भगवान की सामर्थ्य क्या है इसे हम कई बार पहिले भी स्पष्ट कर आये हैं। यह वही प्रलयकाल मे भगवान के ही अन्दर रहने वाला सूक्ष्म प्रकृतितत्व है। भिन्न भिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति के उपादान उसी के भिन्न अशों का यह उल्लेख है। वेद की आलङ्कारिक भाषा को थोड़ा बुद्धि पर बल देकर पढा करें। हमें तो डर है कि कहीं आप को किसी ने कह दिया कि आपकी बुद्धि शास्त्रों में चलती है, तो आप इस वाक्य को सुनते ही अपनी बुद्धि की खोज मे अलमारी मे पडे हुए शास्त्रों को न टटोलने लगे। हा तो इस मन्त्र से न तो ईश्वर के अङ्ग सिद्ध होते हैं और न उसका जन्म।

२६—ईश्वर अखण्ड है इत्यादि। यदि ईश्वर अखण्ड ही होता तो पुरुष सूक्त मन्त्रों मे उसकी पाद-कल्पना कदापि न होती परन्तु यजुर्वेद मे लिखा है कि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि। यजुर्वेद ३१—४) इस मन्त्र द्वारा उसके हिस्से होना सिद्ध हैं। फिर आप ईश्वर को अखण्ड किस प्रकार सिद्ध करते हैं लिखिये ?

२६—इस प्रश्न का उत्तर चौदहवें प्रश्न के उत्तर में पढिये।

२७—सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास पृष्ठ १५ में लिखा है कि ईश्वर अनन्त है (न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्-

सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद्ब्रह्म) जिसकी अवधि व मर्यादा नहीं वह ब्रह्म सब से बड़ा होने से अनन्त है। अब आप बतलावें कि ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा अनन्त है या सत्ता की। यदि ज्ञान की अपेक्षा कहो तो ठीक नहीं क्योंकि ज्ञेय अनन्त सिद्ध होने पर ही ज्ञान की अनन्तता सिद्ध हो सकती है परन्तु ज्ञेय अभी साध्यकोटि में हैं, इस लिये ज्ञान की अपेक्षा अनन्त कहना मिथ्या है। अगर सत्ता की अपेक्षा कहो तो आकाश के अनादि न मानने से उसकी सिद्धि होना ही मिथ्या है। फिर आप ईश्वर को अनन्त किस प्रकार सिद्ध करते हैं?

२७—इस प्रश्न मे आप कहते हैं कि ज्ञेय के अनन्त सिद्ध न होने से ज्ञान अनन्त कैसे कहा जा सकता है। बलिहारी महाराज! क्या कृपया आप आप बतलाएंगे कि आकाश में जहा देखने योग्य अथवा प्रकाशित करने योग्य कोई पदार्थ नहीं वहा सूर्य का प्रकाश है या नहीं। और इसी प्रकार जहा कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं वहा भगवान के स्वाभाविक गुण ज्ञान की सत्ता क्यों असिद्ध है। भगवान् के ज्ञान की सत्ता इस लिये नहीं मानी जाती कि वह ज्ञेय को प्रकाशित करता है प्रत्युत इसलिये कि वह उसका स्वाभाविक गुण है। यह दूसरी बात है कि उसकी सत्ता से ज्ञेय भी प्रकाशित हो जाता है। दूसरी बात आपने लिखी है आकाश के अनादि न होने की। परन्तु हम पहिले कई स्थानों पर सिद्ध कर आये है कि आकाश अनादि है। अत इसके विषय मे अब कुछ लिखना आवश्यक नहीं।

२८—*ईश्वर सर्वशक्तिमान है इत्यादि। यह भी कहना प्रलाप-*मात्र है क्योंकि जो किसी को सहायता किसी भी काम में न ले और अपनी शक्ति से ही सब जगत को रचे उसको सर्वशक्तिमान कहते है। परन्तु सत्यार्थप्रकाश के मन्तव्य ६ मे तीन पदार्थ अनादि नित्य माने गये हैं इससे शिल्पीवत् अशक्य होने से ब्रह्म सर्वशक्तिमान् सिद्ध नहीं होता। लिखिये सर्वशक्तिमान् की सिद्धि में प्रमाण क्या है?

२८—सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ यह नहीं है कि असंभव को भी संभव कर दे। जब आप हमारी परिभाषा का अर्थ करने चले हैं तो उसका तात्पर्य हम से पूछिये और फिर शङ्का कीजिये। सर्वशक्तिमान का तात्पर्य यह है कि सब संभव कार्य कर सके। नित्य पदार्थ का नाश करना और उत्पन्न करना संभव नहीं अत सर्वशक्तिमान से इसकी आशा करना ही अज्ञान मूलक है। इसी प्रकार प्रयोजन के विना सर्वशक्तिमान् से किसी वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं, अत कर्मों और कर्मफल भोक्ता जीवों के बिना उससे सृष्टि रचना की आशा करना अज्ञान मूलक है। क्या यह प्रश्न अज्ञानमूलक न होगा कि आपके जिन भगवान् यदि सर्वज्ञ हैं तो आकाश के फूल और गधे के सींग का रङ्ग रूप क्यों नहीं जानते?

२६—ईश्वर दयालु है इत्यादि। यह भी कहना ठीक नहीं क्यों कि मधुपर्क यज्ञ पितर और देवता इन चारों कार्यों में पशुओं की हिंसा का विधान पाया जाता है। जैसा कि मनु में लिखा है (मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः) ५–४१। और जबकि धार्मिक कार्यों में हिंसा का होना सिद्ध है तब उन धर्मों का कहने वाला ईश्वर दयालु क्योंकर सिद्ध हो सकता है। लिखिये ईश्वर के दयालु होने में प्रमाण क्या है?

२६—जिस श्लोक का आपने प्रमाण दिया है वह प्रक्षिप्त है मनु का नहीं अत जो लोग इसे मनु का मानते हैं उन पर प्रश्न कीजिये।

३०—जो दही में घी वा शहद मिलाकर बनाया जाता है उसी को मधुपर्क कहते हैं ऐसी आर्य समाज की मान्यता है देखिये—(बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्। पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्र सवेषु च) ५–२३। पुराने यज्ञों मे मृगपक्षियों के मांस के पुरोडाश हुये, वैसे ही (नाऽमांसो मधुपर्को भवति) १–२४ और आश्वलायन गृह्य-सूत्र में लिखा है कि बिना मांस के १

नहीं होता। अब बतलावे कि मधुपर्क अर्थात् अतिथि-सत्कार में आप अहिंसा किस प्रकार सिद्ध करते हैं लिखिये ?

३१—आश्वलायन गृह्य सूत्रानुसार मांस का बना मधुपर्क तो सिद्ध है परन्तु उसमें किसी पशु का नाम नहीं आया। इसी शंका निवृत्ति के लिये शतपथ श्रुति में लिखा है कि (राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्) ३-४-१-१ इति श्रुते। राजा व ब्राह्मण के लिये बड़े बैल बड़े बकरे को पकावे। तथा वशिष्ठस्मृति मे लिखा है (ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा अभ्यागताय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेदेवमस्यातिथ्यं कुर्वन्ति) अध्याय ४ श्लो० ८। आये हुये ब्राह्मण व क्षत्रिय राजा व अभ्यागत के लिये बड़े बैल व बड़े बकरे पकावे। ऐसा ही इन राजा आदि का अतिथि सत्कार करते हैं। श्रुति में पचेत् क्रियापद मौजूद है इस लिये किसी पशु के पालन का विधान किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता है। यदि हो सकता है तो लिखिये ?

३०, ३१—इन प्रश्नों मे पशुवध के लिये आपने आश्वलायन का प्रमाण दिया है। हम यज्ञों मे तो क्या सर्वत्र ही पशु हिंसा को अधर्म मानते हैं इसके लिये हमें वेद का आदेश है "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" (मै मित्र की दृष्टि से प्राणिमात्र को देखूं) मित्र की दृष्टि कितनी प्रेम भरी होती है यह बात किसी से छिपी हुई नहीं। याज्ञिक लोगों की वाणी मे भी कितना ऊंचा अहिंसा का का भाव होना चाहिये इसे एक और मन्त्र में पढ़िये "यत्रसुहार्दा सुकृता अग्नि होत्र हुता। यत्र लोकं, तं लोकं यमित्यभि सबभूव सा नो माहिंसीत् पुरुषान पशूंश्च" (जहां पर प्रेमी धर्मात्मा और अग्नि होत्री लोग रहते हैं वहां पर यह वाणी प्रकट हुई है इस लिये यह हमारे मनुष्यों और पशुओं की हिंसा न करेगी) अथर्व ६-१२८-६ वेद मांसाहारी के लिये प्राणदण्ड की आज्ञा देता है इस भाव को एक और वेद मन्त्र में पढिये—

क्रव्यादमम्न रुधिरं पिशाच ।नोहन जहि जातवेद। तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोम शिरो अस्य धृष्णु अथर्व का० ५ सू० २६ म० १० । हे अग्नी, सब कुछ जानने वाले, शमशील राजन्? मांसाहारी, खूनी, पिशाच, शान्ति को भंग करने वाले को नष्ट कर दे। इसका शिर काट दे। जो वेद हिंसा का इतना विरोधी है वह ही उसका विधान करेगा, यह कैसे सम्भव हो सकता है।

आप को ध्यान रहे कि हम सूत्रों ब्राह्मणों और धर्म शास्त्रों को तभी तक प्रमाण मानते हैं जब तक कि वे वेद के अनुकूल चल रहे हों। वेद से विरुद्ध होने पर हमारे लिये कोई भी ग्रन्थ मान्य नहीं, फिर चाहे वह किसी भी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध किया गया हो। इस लिये इन ग्रन्थों मे आये हुए हिंसावाद का उत्तर देने का भार का हमारे ऊपर नहीं। क्योंकि ऊपर लिखे प्रमाणों के अनुसार वेद हिंसावाद के सर्वथा विरुद्ध है अतः इन ग्रन्थों का यह भाग वेद के विरुद्ध है। यह बात अत्यन्त विचारणीय है कि इन ग्रन्थों में ये प्रकरण इन ऋषियों के है या प्रक्षिप्त। और प्रक्षिप्त भी हैं तो कब के।

इस इकत्तीसवें प्रश्न में ही आपने शतपथ के एक वाक्य को भी उद्धृत किया है। इसमें आपने बतलाया है कि अतिथि के लिये महोक्ष या महाज पकाने का विधान है। यह महोक्ष और महाज क्या है इसका स्पष्टीकरण हम ब्राह्मण और वेद के ही द्वारा करेंगे। ये महोक्ष और महाज एक प्रकार के चावल हैं। उक्ष धातु का अर्थ सींचना होता हैं और इस दृष्टि से जिसकी बहुत सिंचाई हो उसे महोक्ष कह सकते हैं। ब्राह्मण में एक स्थान पर वर्षवृद्ध शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है "वर्षवृद्धा वा एतेयद्व्रीहय" यहां पर वर्षवृद्ध शब्द का चावल अर्थ किया है। वृष धातु का अर्थ सींचना है। और इस लिये इस शब्द का अर्थ हो जाता है सिंचाई से बढने वाले। इस प्रकार महोक्ष और वर्षवृद्ध दोनों ही शब्द यौगिक दृष्टि से समानार्थक है और ब्राह्मणकार ने

इनमें से एक शब्द का निर्वचन कर दिया है इसलिये दूसरे शब्द का भी वह ही अर्थ स्वत सिद्ध है। यह प्रकरण भी ऐसे ही भाव का प्रकाश करता है। क्योंकि यह अतिथि सत्कार का प्रकरण है और अतिथि के लिये सात्विक भोजन का विधान है और चावलों से बढकर और कोई सात्विक भोजन नहीं। इसलिये यहा महोक्ष शब्द का अर्थ उत्तमचावल ही है। और इसलिये भी इस महोक्ष शब्द का अर्थ चावल है कि इसके साथ विकल्प में दिया गया दूसरा महाज शब्द भी विशेष चावलों के अर्थ में आया है। इस शब्द के लिये वेद का प्रमाण हम नीचे उद्धृत करते हैं।

अथर्व वेद के चौदहवें काण्ड मे चौथा सूक्त अजसूक्त है। इस सूक्त मे अज की उत्पत्ति दिव लोक में अर्थात् हिमालय के शिखरों पर बतलाई है। यह बहुत बड़ा कन्द है जिसमें से चावल निकलते हैं। इस सारे ही सूक्त को यदि हम यहा उद्धृत करें तो बड़ा विस्तार हो जायगा। इसलिये हम एक मन्त्र और कुछ वाक्य ही यहा उद्धृत करेंगे। लिखा है 'तेन रोहान रुरुहुर्मेध्यास" उस अज से बुद्धि-वर्धक बेलों के अकुर निकले। उसे लेने कहा जावे इसके लिये लिखा है "क्रमध्वमग्निना नाक मुख्यान हस्तेषु बिभ्रत" द्युलोक में अग्नियानों से चले जाव हाथो मे पात्र लिये हुए। अज का विशेषण देकर व्याख्यान करते हुए लिखा है "अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्य सुपर्णं पयस बृहन्तम्" (दिव्यम्) द्युलोक मे होने वाले (सुपर्णम्) अच्छे पत्तों वाले (पयस) दूध वाले (बृहन्तम्) बड़े (अजम्) अज को (पयसा) दूध से (घृतेन) घी से (अनज्मि) धोता हूँ। यहा 'सुपर्णम्" विशेषण ध्यान देने योग्य है। सुपर्ण के दो ही अर्थ हो सकते हैं, एक अच्छे परों वाला और दूसरा अच्छे पत्तो वाला। परन्तु बकरे के न पख होते हैं और न पत्ते। हम अज का अर्थ एक बडा कन्द करते है और कन्द के पत्ते होते हैं। यह अब भी हिमालय की चोटियो पर पाया जाता है और इसमें से चावल निकलते हैं। इसी सूक्त में इन चावलों का भी उल्लेख है। "पञ्चौदन पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धरपञ्चधैतमोदनम्", इस अज में

से पांच प्रकार के चावल पाचों अगुलियों और कड़छी से निकालो ये चावल पाच प्रकार के हैं। इससे यह सिद्ध है कि इस कन्द में से छोटे बड़े या रङ्ग बिरगे पाच प्रकार के चावल निकलते हैं। इस कारण से भी इस अज को बकरा नहीं कह सकते क्योंकि बकरे में चावल नहीं होते महाभारत में आता है "अज सञ्ज्ञकानिबीजानि, छाग नो हन्तु मर्हथ" अज नामक बीज हैं कहीं नाम के भ्रम में बकरा न मार देना। इन बीजों का भी उस कन्द के बीज चावलों से सम्बन्ध प्रतीत होता है। ऊपर के मन्त्र भाग मे अज का एक विशेषण "बृहन्तम्" भी है, और बृहन्तम् का अर्थ है महान् इस महत् शब्द को अज के साथ जोड़ देने से "महाज" शब्द बन जाता है। आगे चल कर इस कन्द का नाम अज होने के कारण इसके अगों को अज के अगों के साथ उपमित भी कर दिया है। इस प्रकार अथर्व के इस प्रमाण से सिद्ध है कि शतपथ के महाज शब्द का अर्थ अतिथि का उपयोगी सात्विक भोजन एक बड़े कन्द के चावल है और इस लिये तथा उपरोक्त कारणों से इसके विकल्प मे पढे गये महोक्ष शब्द का अर्थ भी उत्तम प्रकार के चावल ही हैं। वसिष्ठ ने शतपथ के वैसे के वैसे ही शब्दों को उद्धृत कर दिया है परन्तु महाभारतकार ने उसके अर्थों को भी स्पष्ट कर दिया है।

३२—जो स्वादिष्ट वस्तु हो वह अतिथि के भोजन करने पर ही भोजन करे, जैसा कि अथर्व वेद में लिखा है कि (एतद् वा स्वादीयो यदधिगव क्षीर व मास वा तदेव नाश्नीयात्) काण्ड ६ अ० ३-६। जो स्वादिष्ट वस्तु हो उनको (अपने आप) न खाये जसे मास व दूध। इस अथर्व वेद वचन से भी अतिथि के लिये मास का विधान सिद्ध है यदि आपकी सम्मति में यह ठीक नहीं तो प्रमाण लिख कर दिखलाइये ?

३२—इस प्रश्न में आपने अथर्ववेद के अतिथि सूक्त पर आक्षेप किया है। इस सूक्त में जितना ही पवित्र भाव है उतना ही आपने उसे न समझ कर अपवित्र वर्णन किया। सर्व साधारण के परिचय

के लिये हम यह सारा ही प्रकरण अर्थ और भाव सहित नीचे लिखे देते हैं।

(अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त ३)

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति य , पूर्वो ऽतिथेरश्नाति ।१। वह मनुष्य घर के सब पुण्य कर्म क्षीण करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।१। यह स्मरण रहे कि इस सारे ही प्रकरण में विधेय अशन क्रिया का क्षीण करना अर्थ है जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, और यह अर्थ स्वरस सगत भी है क्योंकि पुण्य क्षीण हो सकता है खाया नहीं जा सकता।

(पयश्च वा एषरसञ्च) वह घर के दूध और रस को।२। (ऊर्जाञ्च वा एष स्फातिञ्च) वह घर के बल और शक्ति को।३। (प्रजाञ्च वा एष पशूंश्च) वह सन्तान और पशुओं को।४। (कीर्तिञ्च वा एष यशश्च) वह प्रसिद्धि और यश को।५। (श्रियञ्च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति य पूर्वो ऽतिथेरश्नाति) वह घर की सम्पत्ति और विज्ञान को क्षीण करता है जो अतिथि से पहिले खाता है।६। (एष वा अथितिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मादतिथे पूर्वो नाश्नीयात्) यह विद्वान् ही अतिथि है इसलिये पहिले न खावे।७। (अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम्) अतिथि के खाने पर खावे, यज्ञ की पूर्णता के लिये, यज्ञ के अविनाश के लिये यह व्रत है।८। इस प्रकार यहां अतिथि से पहिले न खाने के प्रसग को फल दिखा कर समाप्त कर दिया है। आगे चल कर लिखा है—(एतद्वा उस्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं तदु नाश्नीयादेव) यह आनन्द दायक है जो कि गौ के अन्दर दूध है या मांस है इसे कभी भी क्षीण न करे।९। हम पहिले कह आये हैं कि इस प्रसग मे अश् धातु का क्षीण करना अर्थ भी है। हमने इस मन्त्र में अश् का वह ही अर्थ किया है। हमारे ऐसा करने में और हेतु भी हैं। एक यह कि इस मन्त्र में क्षीर और मांस का विशेषण "अधि-

गवम्" पद आया है। इसका अर्थ है "गौ के अन्दर के" और गौ के अन्दर होने वाले दूध तथा मास को पीया और खाया नहीं जा सकता, हा गौ को पूरा भोजन न देकर उन्हें क्षीण किया जा सकता है इसलिये यहा क्षीण करना अर्थ ही इस विशेषण की शक्ति से प्राप्त होता है और यह अर्थ प्रसग में है भी। यदि खाना अर्थ अभीष्ट होता तो "अधिगवम्" विशेषण न देकर "गो" विशेषण देते। जिस गौ का शरीर मोटा ताजा हो और जिसकी खीरी दूध से भरी हुई हो उसे देख कर कैसा आनन्द आता है। इसलिये गौ के अन्दर बढे हुए दूध और मास अनन्द दायक भी हैं। जिसके हड्डियें और चर्म ही शेष रह गये हों ऐसी गौ को देख कर तो चित्त में महाखेद होता है। जो अतिथि को दान देनी हो अथवा जिस गौ का दूध अतिथि को पिलाना हो वह खूब मोटी ताजी और अच्छे दूध वाली होनी चाहिये यह ही इस मन्त्र मे उपदेश है। गौओं को मोटी ताजी रखने का इसी वेद में अन्यत्र भी उपदेश है। इसी भाव का एक मन्त्र हम नीचे लिखते हैं।

'यूय गावो मेदयथा कृषञ्चिदश्रीर चित्कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्र-गृह कृणुत भद्र वाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु। अथर्व ४।२१।६ गौवें कमजोर हैं तो तुम उन्हें मोटी ताजी बनाओ। यदि सुन्दर नहीं हैं तो उन्हें सुन्दर बनाओ। उनका सुन्दर घर बनाओ। उनके साथ मीठी वाणी बोलो। फिर तुम देखोगे कि तुम्हारी लम्बी उमर की कथा समाज में कही जा रही है। इस मन्त्र में गौ के लिये कैसे मनोहर भाव प्रकट किये गये हैं। और हमारे इस अतिथि सूक्त के मन्त्रार्थ की ये कैसे बलपूर्वक पुष्टि कर रहे हैं।

एक और प्रबल हेतु

इस सूक्त से आगे वाले चौथे सूक्त में सारे के सारे मन्त्र ही हमारे इस भाव की पुष्टि कर रहे हैं। इन मन्त्रों में यह दिखलाया गया है कि अतिथि को कैसी गौ भेंट की जावे। इन सारे ही मन्त्रों में सिच् धातु का प्रयोग आया है। सिच् धातु का सींचना अर्थ

भी होता है और बढाना भी। सींचना अर्थ ता इन मन्त्रों में सगत नहीं होता। क्योंकि इनमें एक मन्त्र आता है "य एव विद्वानुदक-मुपसिच्योपहरति" सींचना अर्थ होने पर इस मन्त्र का यह अर्थ होगा "जो ऐसा जानता हुआ जल को सींच कर भेट करता है" और चीजों का जल से सींचना माना भी जा सकता है परन्तु जल के जल से सींचने का मतलब क्या। इसलिये इन मन्त्रों में सिच् धातु का बढाना ही अर्थ है इस धातु के इस अर्थ की पुष्टि में अथर्ववेद का प्रमाण लीजिये। "सर्पिसञ्चामिगवा क्षीर समाज्येन बल रसम्। सम्क्ति अस्माक वीराध्रुवा गावो मयिगोपतौ।" अथर्व २।२६।४ भावार्थ—मै गौवों के दूध को बढाता हू। इन के घी मे बल और आनन्द को बढाता हू। इन के दूध घी से हमारे वीर बढ हैं। इस लिये मुझ गोस्वामी के पास गौवे सदा स्थिर रहें। इस प्रकार इस मन्त्र मे सिच् धातु का बढाने के सिवाय और कोई अर्थ किया ही नहीं जा सकता। अब आगे चौथा सूक्त पढिये।

अथर्ववेद का० ६ सू० ४

य एव विद्वान् क्षीर मुपसिच्योपहरति ।१। जो गोपालन विद्या का जानने वाला दूध बढा कर गौ भेट करता है ।१। यावदग्निष्टो-मेनेष्ट्वा सुसमिद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे ।२। जितना सुसपन्न अग्निष्टोम से फल प्राप्त होता है उतना ही इससे प्राप्त होता है ।२। य एव विद्वान सर्पिरुप सिच्योपहरति ।३। जो गोपालन जानने वाला घी बढा कर गौ भेट करता है ।३। यावदतिरात्रेनेष्ट्वा ।४। यहा अतिरात्र के फल का अतिदेश किया गया है ।४। य एव विद्वान मधूपसिच्योपहरति ।५। जो गोपालन जानने वाला दूध में मिठास बढा कर गौ भेट करता है ।५। यावत् सत्रसद्यनेष्ट्वा ।६। यहा सत्र-सद्य यज्ञ के फल का अतिदेश किया गया है ।६। य एव विद्वान् मास मुपसिच्योपहरति ।७। जो गोपालन जानने वाला मास बढाकर गौ भेट करता है ।७। यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा ।८। यहा द्वादशाह यज्ञ के फल का अतिदेश किया है ।८। य एव विद्वानुदक मुपसिच्योप-

हरति ।९। जो गोपालन जानने वाला गौ के उदक=रज अर्थात् प्रजननशक्ति को बढा कर गौ भेट करता है ।९। प्रजाना प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठा प्रिय प्रजाना भवति य एव विद्वानुदक मुप सिच्योप-हरति ।१०। गौ की सतान के बढाने से उसकी प्रतिष्ठा होती है। गोधन के बढने से लोग उससे प्यार करते हैं जो इस विद्या को जानता हुआ प्रजनन शक्ति को बढा कर गौ भेट करता है ।१०।

पाठक इस सूक्त को ध्यान से पढे और इसकी गहराई में जा कर देखें यहा जीवित गौ भेट की जा रही है या गौ का मास। गौओं के दूध को, उनके घी को, उनके दूध के मिठास को, उनके शरीर को और उनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति को उन्नत करने के भिन्न २ साधन हैं। और उन साधनों का वैज्ञानिक परि-चय ही गोपालन विज्ञान है। यह विज्ञान अनन्त मीठे फलो का देने वाला है। वह ही मनुष्य प्रतिष्ठित और पूजा का पात्र है जो ससार के लोगो के लिये ऐसी नीरोग हृदय पुष्ट गौवें पैदा करता है और अपने अतिथियों को ऐसी ही गौवे भेट करता है। तात्पर्य यह है कि देश में ऐसी उत्तम गौवें इतनी सख्या में होनी चाहिये कि वे गृहस्थियों के घरों मे तो पर्याप्त मात्रा में हों ही। आये हुए अतिथियों को भेट में भी दी जा सके।

पाठक इस प्रसग को पढ कर समझ गये होंगे कि वेद गौओं के लिये किस आदर भाव को प्रकट करना सिखाता है। वेद के ऐसे पवित्र विज्ञान मे हिंसा की खोज करना सूखे रेत मे पानी खोजने के समान है।

३३—(हतोमेपाप्मा मेहत) १-२४-२४ इस आश्वलायन गृह्य सूत्र की वृत्ति मे लिखा है कि (इम मत्र जपित्वा ओम् कुरुतेति ब्रूयात्) २१। यज्ञ मे खूटे से बधी हुई गाय को पूछने पर (कुरुत) करो अर्थात् उस गाय को बध करो यही आदेश अर्थात् आज्ञा करनी चाहिये। इस प्रमाण से अतिथि की आज्ञानुसार

गाय का बध होना चाहिये भी सिद्ध है। यदि आपकी सम्मति मे यह बात ठीक नहीं है तो प्रमाण सहित लिखिये ?

३३—यह सारा ही प्रश्न आश्वलायन गृह्य सूत्र के आधार पर है। हम पहिले ही लिख आये हैं कि वेद हिंसा का प्रबल विरोधी है। अत आश्वलायन में जो हिंसा के द्योतक भाव हैं वे सब वेद विरोधी हैं और अतएव प्रक्षिप्त हैं। यदि सम्पूर्ण आश्वलायन और कात्यायन गृह्य सूत्र ऋषि को मान्य होते तो उन्हें गृह्य कार्यो के लिये पृथक् संस्कार विधि लिखने की आवश्यकता ही न पड़ती। अत हमारे लिये इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं।

३४—(जपित्वा कुरुतति कारिष्यन् १–२४–२४। इस आश्वलायन गृह्य सूत्र में ओम् मन्त्र जप कर ही पशु का बध करना बतलाया है। और यवन लोग भी विस्मिल्लाह कह कर पशु का बध करते हैं फिर आप ही बतलावें कि हिंसा विषय में वैदिक से यवन से भेद क्या है ?

३४—इस प्रश्न के उत्तर के लिये तेतीसवें प्रश्न का उत्तर पढ़िये।

३५—अश्वमेध यज्ञ मे देवताओं की तृप्ति के लिये अनेक तरह के पशुओं का विधान यजुर्वेद के २४ वे अध्याय में मौजूद है जैसा कि (वसन्ताय कपिञ्जलानालभते) २४–२० । वसन्त के अधिष्ठात्री देवता के निमित्त तीन कपिञ्जल पक्षियों को। यहा देवता पद में चतुर्थी और पशुपद मे द्वितीय विभक्ति का प्रयोग किया है। और तीसरा (आलभते) क्रियापद जिसका यज्ञ विषय मे हिंसा ही अर्थ होता है। अब आप बतलावें कि पशु पक्षियों को औषधिया और आलभते, क्रियापद का अर्थ, प्राप्ति, अहिंसा किस प्रकार सिद्ध करते हैं प्रमाण सहित लिखिये ?

३५—यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय के जिस मन्त्र में आप देवताओं की तृप्ति के लिये पशुओं का देना बतला रहे हैं। उस

मन्त्र को हम अर्थ सहित नीचे लिखे देते हैं।

'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान वर्षाभ्य तित्तिरीञ्छरदे वर्तिका हेमन्ताय ककरान शिशिराय विककरान। यजु २४।३७।

(वसन्ताय) वसन्त ऋतु के लिये (कपिञ्जलान्) कबूतरों को (ग्रीष्माय) ग्रीष्म ऋतु के लिये (कलविङ्कान्) चिड़ियों को (वर्षाभ्य) वर्षा ऋतु के लिये (तित्तिरीन् तित्तरों को (शरदे) शरद् ऋतु के लिये (वर्तिका) वत्तकों को (हेमन्ताय) हेमन्त ऋतु के लिये (ककरान्) ककर नामक पक्षियों को (शिशिराय) शिशिर ऋतु के लिये (विककरान्) विककर नामक पक्षियों को (आलभते) प्राप्त करे।

पाठक पढ़ कर जान सकेंगे कि इस मन्त्र में किसी भी देवता का नाम नहीं आया जिसके लिये इन पक्षियों की बलि देने का विधान हो। चतुर्थ्यन्त सब शब्द ऋतुओं के नाम हैं। और छहों ऋतुओं को सब लोग जानते हैं कि ये देवताए नहीं काल की विशेष सज्ञाए हैं प्रत्येक ऋतु में जमींदारों की कोई न कोई खेती होती है। जैसे मनुष्यों के रोगों के कीटाणु होते है उसी प्रकार खेतियों के रोगों के भी होते है। इन कीटाणुओं के खाने वाले ये पक्षी है। जिनके कि नाम ऊपर दिये गये हैं। भगवान का आदेश है कि इन पक्षियों को खेती की रक्षा के लिये जमींदार पाल, मारे नहीं। आपने लिखा है कि आङ् पूर्वक लभ धातु हिसा अर्थ मे ही आता है सो ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार का व्याकरण अथवा साहित्य का कोई नियम नहीं। आप इसके लिए गृह्य सूत्रों का प्रमाण देते हैं परन्तु वेद के ऊपर लिखे मन्त्र में यह क्रिया स्पष्ट ही प्राप्ति अर्थ में आई है। और वेद के प्रतिद्वन्द्व में गृह्य सूत्रों की कोई सत्ता नहीं। प्राप्ति अर्थ के लिये ही गृह्य सूत्र का भी प्रमाण नीचे पढ़िये

विवाहे गौ। (आपस्ताम्बगृह्य सूत्र पटल १ ख ३ सू ६)

अनाकुला वृत्ति विवाहस्थाने गौरालब्धव्या दुहितृमता तात्पर्यदर्शनम्।

विवाहे गौ सन्निधाप्या इत्यर्थ

यहा तात्पर्यदर्शनकार ने आलम्भन का अर्थ गौ का लाना ही लिखा है।

३६—(आलभते) क्रियापद का धात्वर्थ आप करते 'प्राप्ति' है परन्तु (उपसर्गपूर्वकधात्वर्थ बलादन्यत्र नीयते) इस वचन से प्राप्ति अर्थ न होकर वही हिंसा परक सिद्ध हो जाता है। और आश्वलायन गृह्य सूत्र में लिखा है कि (यदि कश्चिच्छ्यन्मारिय-ष्यन्भवति तदा च दाता आलभते) १–२४–२४। इस प्रमाण द्वारा पशुबध मे आलभते शब्द का प्रयोग करना सिद्ध होता है। अब आप बतलावे कि यज्ञ विषय में आलभते क्रियापद का अर्थ प्राप्ति व अहिंसा किस प्रकार सिद्ध करते हैं।

३६—प्रश्न ३५ के उत्तर मे हम दिखला आये हैं कि आप स्तम्भ गृह्य मे आलभते क्रिया पद प्राप्ति अर्थ में भी आया है। हम यह भी दिखला आये हैं कि आप स्तम्भ गृह्य सूत्र में बहुत सा प्रक्षिप्त भाग है और उसे हम मानते नहीं। अत उसके आधार पर किये गये प्रश्न का उत्तर दातृत्व हमारे ऊपर नहीं।

३७—शत पथ श्रुति में भी (आलम्भन) शब्द का अर्थ मारना ही किया है जैसा कि (पुरुष हवदेवा अग्रे पशुमालेभिरे) १–३–३–६ इतिश्रु ते देवताओं ने पहले दैवी यज्ञ में पुरुष का ही आल-म्भन (वध) अर्थ किया। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम) उस आलम्भन (बध) अर्थ किये पुरुष का मर जाने पर जो मेध निकला। (सोऽश्व प्रविवेश) वह घोडे में प्रविष्ट हुआ। (तेऽश्व मालभन्त) तब उन्होंने घोडे को भी मारा। १–२–१–६। इत्यादि शतपथ श्रुति में (आलम्भन) शब्द का अर्थ मारना ही किया। फिर आप यज्ञ विषय मे प्राप्ति अर्थ किस प्रकार सिद्ध करते हैं जरा लिखिये ?

३७—शतपथ ब्राह्मण के जिस प्रकरण मे आप आलम्भन पद का अर्थ मारना बतला रहे है उस सारे ही प्रकरण को हम अर्थ

सहित नीचे लिख देते हैं। उसके ऊपर की हुई हमारी टिप्पणी भी ध्यान से पढ़िये "पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम सोऽश्व प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधो पचक्राम स गां प्रविवेश। तेगामालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्ततस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम स इमां पृथिवीं प्रविवेश। त खनन्त इवान्वीषु स्तमन्वविन्दँस्ताविमौ व्रीहियवौ तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त इवैवानुविन्दन्ति, स यावद्वीर्यवद्ध वा एते सर्वे पशव आलब्धास्युस्तावद्वीर्यवद्धास्य हविरेव भवति। तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्य मपक्रान्तमेधा ह्येते पशव इति शतपथ १।२।१।

अर्थ—कभी प्राचीन काल में विद्वानों ने ज्ञानवर्द्धक भक्ष्य पदार्थ समझ कर पुरुष को प्राप्त किया। उसको प्राप्त करते ही उस में से बुद्धितत्व निकल गया और घोड़े में प्रविष्ट हो गया। फिर उन्होंने घोड़े को प्राप्त किया और उसमें से भी बुद्धितत्व निकाल कर गौ में प्रविष्ट हो गया। फिर उन्होंने गौ को प्राप्त किया। और उस में से भी निकल कर बुद्धितत्व भेड़ में प्रविष्ट हो गया। फिर उन्होंने भेड़ को प्राप्त किया। और उसमें से भी निकल कर वह बुद्धितत्व पृथिवी में प्रविष्ट हो गया। फिर उन्हों ने पृथिवी को खोद कर खोजना आरम्भ किया तो जौ और चावल मिले। इसलिये आज कल भी लोग इन्हें पृथिवी खोद कर ही प्राप्त करते हैं। सो वैज्ञानिक दृष्टि से जितनी बुद्धि शक्ति इन सारे पशुओं में मिलकर है इतनी ही जौ और चावलों में है। फिर आगे चल कर कहा है कि पशुओं को नहीं खाना चाहिये क्योंकि उन में से बुद्धि निकल गई है।

टिप्पणी

यह वह ही शतपथ ब्राह्मण का प्रकरण है जिसके आधार पर आप यज्ञ में पशु का वध सिद्ध करना चाहते हैं। जो मनुष्य थोड़ी सी भी बुद्धि रखता होगा वह भी इस सारे प्रकरण को पढ़ कर

कह देगा कि यह प्रकरण पशुओं की हवि और पशुओं के भक्षण की निन्दा और जौं तथा चावलों की हवि तथा उन्हीं के भक्षण की प्रशंसा कर रहा है। प्रकरण का भाव शब्दों से ही स्पष्ट हो रहा है कि यज्ञ की हवि तथा भोजन के लिये मनुष्यों और पशुओं के पीछे उन्हें मारने के लिये मत दौडो, प्रत्युत भूमि खोद कर जौं तथा चावल आदि श्रेष्ठ अन्न पैदा करो, बुद्धि बल इसी भोजन में है पशुओं में नहीं। मेध शब्द का अर्थ शायद आप चर्बी या मांस समझ बैठे हैं। परन्तु श्रीमान जी चर्बी या मांस अर्थ में मेदस् शब्द आता है मेध नहीं। मेध और मेधा शब्द मेधृ सङ्गमे धातु से बनते हैं। जिसमें सब द्रष्टव्य विषयों का सङ्गम होता है अथवा जो ज्ञान के द्वारा सब विषयों से सङ्गम कराती है उस बुद्धि का नाम मेधा है। अमरकोष में भी यह शब्द इसी अर्थ में आया है "धीर्धारणावती मेधा" इस श्लोक पाद को ध्यान से पढ़िये। जो अर्थ मेधा शब्द का है वह ही मेध का है केवल स्त्री प्रत्यय का अन्तर है। और इसी लिए इस प्रकरण के अन्त में और भी स्पष्टीकरण करते हुए लिखा गया है कि इन पशुओं को नहीं खाना चाहिये। इन में मेधा नहीं है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के लिये बुद्धि वर्द्धक भोजन अन्न ही है, मांस नहीं। इस विषय को ग्रन्थकार ने एक काल्पनिक कहानी बना कर समझाया है। यह प्रकरण अहिंसावादियों के विचारों की कितनी गम्भीरता और सुन्दरता से पुष्टि कर रहा है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु हमारे जैनी भाईयों का तो विरोध करना धर्म बन गया है चाहे बात कितनी ही अच्छी क्यों न हो। भगवान् इन्हें सुबुद्धि दें।

३८—वेद में यज्ञ द्वारा ही पशुओं की उत्पत्ति लिखी है जैसा कि (तस्मादश्वा अजायन्त) यजुर्वेद ३१–८ तिस यज्ञ पुरुष से घोडे उत्पन्न हुये। और यज्ञ की सिद्धि भी उन उत्पन्न हुये पशुओं द्वारा ही बतलाई गई जैसा कि (नहि पशुभिर्विना यज्ञ सिद्ध्यति)

यजुर्वेद ३१–८ उव्वटभाष्ये । अर्थात् यज्ञ की सिद्धि बिना पशुओं के नहीं होती। कहिये वेद की इस आज्ञा को आप मानते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो प्रमाण सहित लिखिये।

३८—यह प्रश्न आपने उव्वट भाष्य के आधार पर किया है और उव्वट भाष्य को हम वेदानुकूल नहीं मानते अत इसका उत्तर दातृत्व हमारे ऊपर नहीं।

३९—प्रथमबार के सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३९६ में स्वामी जी जैनियों से यज्ञ विषय में तर्क करते हैं कि यज्ञों के विषय में आप कुतर्क करते हैं सो पदार्थ विद्या के न होने से। क्योंकि घृत, दूध और मामादिकों के यथावत् गुण जानने और यज्ञ का उपकार कि पशुओं को मारने से थोडा सा दुःख तो होता है परन्तु यज्ञ में चराचर का अत्यन्त उपकार होता है। सो यज्ञ विषय में स्वामी जी की यह आज्ञा है। कहिये यह आज्ञा आप को स्वीकार है या नहीं। यदि नहीं तो लिखिये।

३९—प्रथमवार के सत्यार्थ प्रकाश में उस समय के पौराणिक विचारों के लेखकों ने जान बूझ कर कितनी ही गलतियें की थीं। इस विषय की सूचना ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन में ही पत्रों द्वारा दे दी थी और सशोधन करा दिये थे। यज्ञ में पशु हिंसा के बारे में ऋषि दयानन्द के विचार उनके अपने ही शब्दों में नीचे पढ़िये।

"प्रोक्षित अर्थात् यज्ञ में मास खाने में कोई दोष नहीं" ऐसी पामरपन की बाते वाममार्गियों ने चलाई हैं। उनसे पूछना चाहिये कि जो 'वैदिकी हिंसा' हिंसा न हो तो तुझे और तेरे पड़ौसियों को मार कर होम कर डाले तो क्या चिंता है। (सत्यार्थ प्रकाश आवृत्ति १४ पृ० ३००) इन पक्तियों को पढ कर आप समझ गये होंगे कि ऋषि दयानन्द यज्ञ में पशुहिंसा के कितने प्रबल विरोधी हैं।

४०—यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र ३२ में जिस शमितु नामक ब्राह्मण ने अश्व को छुरी से मारा था और मन्त्र ३३ में देवताओं

के योग्य उस घोडे के मास को अच्छी तरह पकावे। जैसा कि इस मत्र में लिखा है (सुकृतातच्छमितार कृण्वन्तुतन्मेधश्रृतपाक पचन्तु) (शमितार) विशमन (वध) करने वाले (तत) उस को (सुकृता) सुसस्कार (कृण्वन्तु) करें। (उत) और (मेध) पवित्र मास (श्रृतपाकम्) योग्य पाक को (पचन्तु) करें। इस प्रकार इन मन्त्रों में हिंसा का करना मास का पकाना, और हुत शेष मास भक्षण भी लिखा है। यदि आपकी सम्मति में यह बात वेद विरुद्ध है तो लिखिये ?

४०—पचीसवें अध्याय के बत्तीसवे और तेतीसवे मन्त्र का अर्थ लिखने से पहिले हम आपको यह सूचना दे देना आवश्यक समझते हैं कि इस अध्याय में प्राय अश्वमेध प्रकरण के मन्त्र हैं। ऋषि दयानन्द के विचारानुसार अश्वमेध यज्ञ घोड़ों को बढ़ाने और उनकी नसल को उत्तम बनाने के लिये है। लोग अपने अच्छे सधाये हुए, सुन्दर तथा हृष्ट पुष्ट घोडों को इस यज्ञ में लाते थे और पारितोषिक प्राप्त किया करते थे। घोडों को उत्तम बनाने के उपाय यज्ञ में बतलाये जाते थे और इसी विषय पर विचार हुआ करते थे। इस यज्ञ के इस स्वरूप को आप सामने रक्खे और अपने प्रश्न में इङ्गित किये गये दोनों मन्त्रों का अर्थ पढें ।('यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति। यद्धस्तयो शमितुर्यन्नखेषु सर्वाता अपि देवेष्वस्तु (यजु २५।३२)'

(यत्) जो (अश्वस्य) घोड़े के शरीर मे से (क्रविष) मास (मक्षिका) मक्खियों ने (आश) खाया है (यद्वा) अथवा जो कुछ (स्वरौ) अच्छी चलने वाली (स्वधितौ) कैंची में (रिप्तम्) रक्त आदि लगा है (यत्) जो (शमितु) घोडे को सधाने या शिक्षा देने वाले के (नखेषु) नाखूनों में मैल आदि लगा है (सर्वाताते) ये सब चीजे (देवेष्वपि अस्तु) अश्वविद्या जानने वाले विद्वानों के पास जावे ।३२।

भावार्थ

वर्षा ऋतु में घोड़ों के ऊपर मक्खियों से काटे हुए स्थान पर प्राय रक्त मैल जम जाता है, योग्य सेवक का काम है कि उस मैल का बाल काटते हुए कैंची मे या खुरैरा करते हुए नाखूनों में जो भाग लग जावे उस सब को अश्वचिकित्सक विद्वानों के पास पहुँचा देवे। जिससे कि वे उसका परीक्षण कर घोड़े के स्वास्थ्य और रोग से परिचित होते रहे।

(घोडो को आमातिसार रोग हो जाने पर शमिता क्या करे—)

"यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य ऋविषोगन्धो अस्ति। सुकृता तच्छमितार कृण्वन्तूत मेध शृतपाक नयन्तु ।३३।

(यत्) जो (ऊवध्यम्) मैल (उदरस्य) पेट का (अपवाति) बाहर निकलता है (यत्) जोकि (ऋविष) मास के लिये उपयोगी (आमस्य) रक्त की तरह के कच्चे रस विशेष का (गन्ध) गन्ध वाला द्रव्य (अस्ति) है। (शमितार) घोडे को शिक्षा देने वाले (तत्) उसके लिये (सुकृता) अच्छी चिकित्सा क्रिया (कृण्वन्तु) करें (उत) और वह आम (शृतपाकम्) अच्छी तरह पका हुआ (मेधम्) रक्त में सङ्गत हो जावे ऐसे (पचन्तु) उसे पाचक औषधियों से पकावे ।३३।

भावार्थ

घोड़ों को चातुर्मास्य मे कई बार गर्मी की अधिकता के कारण मन्दाग्नि हो जाने से आमातिसार रोग हो जाता है। इस रस के कच्चा ही निकल जाने पर शरीर में रक्त और मास नहीं बढते और घोड़ा निर्बल हो जाता है। इसके लिये घोड़े के रक्षक को चाहिये कि वह विद्वान् वैद्यो की सम्मति से गर्मी को शान्त करने वाली और उस आम को पकाने वाली औषधिय दे। जिससे कि घोडे क रक्त, मेद और मास ठीक बन सके और घोडा हृष्ट पुष्ट तथा सुन्दर बने।

अब इन मन्त्रों के अर्थ को पढ कर पाठक समझ गये होंगे कि घोडों की वृद्धि के लिये ही ये मन्त्र हैं, घोडे को मारने या उसकी आहुति देने मे इनका विनियोग नहीं है।

४१—(यजुर्वेद अध्याय २३–सूचीभि शम्यन्तु त्वा–३३) ऐसे पांच मंत्र हैं जिनमें स्त्रियां एक सौ एक सुइयों द्वारा घोड़े के प्रत्येक अंग पर चिन्ह कर देती हैं और उन चिन्हों पर से ही उस अश्व के प्रत्येक अंग को याजक लोग छुरी द्वारा काट २ कर बांट लेते हैं। यदि चिन्ह न किये जाय तो अश्व के अंग कम ज्यादा कट जाने से याजकों में एक प्रकार से झगड़ा खड़ा होता है। कहिये महाशय जी क्या ये बातें दयालु ईश्वर की हैं? यदि हैं तो प्रमाण सहित लिखिये?

४१—यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के तेतीसवें मन्त्र से लेकर पांच मन्त्रों में घोड़े के शरीर पर एक सौ एक सुइयों से स्त्रियों द्वारा चिह्न किये जाने की विधि आप सिद्ध करना चाहते हैं। पाठकों के परिचय के लिये वे पांचों ही मन्त्र अर्थ सहित हम नीचे लिख देते हैं। 'क्या ठीक है" इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लेंगे।

"गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह। बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभि शम्यन्तु त्वा"। यजु० २३।३३

"प्रभु गुण गान तथा सदुपदेश के लिये आये हुए, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप, पङ्क्ति, बृहती, उष्णिक्, ककुप् इन छन्दों द्वारा दी हुई भाव भरी सूचनाएं तुझे शान्त कर दें"।

"द्विपदायाश्चतुष्पदा त्रिपदायाश्च षट्पदा। विच्छन्दायाश्च सच्छन्दा सूचीभि शम्यन्तु त्वा"।३४। दो पादों वाले, चार पादों वाले, तीन पादों वाले, छ पादों वाले, विविध छन्दों वाले और शुभ छन्दों वाले वेद मन्त्र तुझे शुभ सूचनाओं से शान्त करें। अथवा सूई से दो वस्त्रोंकी भांति परस्पर मिलाकर शान्त करदें।३४।

"महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशा प्रभूवरी, मैघी विद्युतो वाच सूचीभि शम्यन्तु त्वा"।३५। जिनकी बहुत प्रसिद्धि है, जो धन को बढ़ाने वाली हैं और जिनका सब दिशाओं में प्रभुत्व है वे मेघ की बिजली की तरह प्रकाश देने वाली पवित्र वेदवाणियां अपनी

शुभ सूचनाओं से तुझे शान्त कर दे। अथवा जिस प्रकार सूई दो वस्त्रों को मिला देती है उस प्रकार प्रेम द्वारा परस्पर मिला कर तुम्हें शान्त कर दे ।३५।

"नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया। देवाना पत्न्यो दिश सूचीभि शम्यन्तु त्वा" ।३६।

हे विदुषि! (पत्न्य नार्य) गृहस्थ देविये (ते लोमम्) तेरे अनुकूल वचन को (मनीषयाविचिन्वन्तु) श्रेष्ठ बुद्धि से ग्रहण करें। (दिश) त्यागशील (देवाना पत्न्य) विद्वानों की स्त्रिये (त्वा) तुझ उपदेशिका को (सूचीभि) शुभ सूचनाओं से (शम्यन्तु) सुशिक्षित करें ।३६।

इस मन्त्र में उपदेश दिया गया है कि विद्वानों की त्यागशील विदुषी देविये उपदेशिकाओं को शिक्षित करें और वे फिर सब देवियों में धर्म का प्रचार करें।

अगले मन्त्र में फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं —

"रजता हरिणी सीसायुजो युज्यन्ते कर्मभि। अश्वस्य वाजिन स्त्वचि सिमा शम्यन्तु शम्यन्ती" ।३७। (रजता) अनुराग युक्त अर्थात् स्त्री जाति से प्रेम करने वाली (हरिणी) अपने आकर्षक भाषणों से सब का मन हरने वाली (सीसा) अपने प्रेम बन्धन में सब देवियों को बाधने वाली (युज) कार्य में लगने वाली अर्थात कर्म शील (कर्मभि युज्यन्ते) काम मे लगाई जावे। (अश्वस्य) वेग से चलने वाले (वाजिन) घोडे के (त्वचि) चमडे पर=पीठ पर (सिमा) काठी बाधे हुए (शम्यन्ती) स्वय विनीत होती हुई (शम्यन्तु) अन्य देवियों को विनय सिखावें।

भावार्थ

शुभ गुणों से सम्पन्न देविये घोड़ों पर चढ कर देश देशान्तर में जा जा कर मातृशक्ति को विनय सिखावें यह इस मन्त्र में उपदेश है। पहिले तीन मन्त्रों में वेद मन्त्रों द्वारा पुरुषों को विनय तथा प्रेम सिखाने का उपदेश है और पिछले दो में देवियों को।

यह राजा का कर्तव्य है कि देश के पुरुषों तथा देवियों को विनय तथा प्रेम सिखाने के लिये पुरुषों के लिये पुरुष तथा देवियों के लिये देवियें उपदेशिकाएं तैयार करे। और राजकीय सहायता से उन्हे देश मे भेजे। इन मन्त्रों में घोड़े के ऊपर एक एक चिन्ह बनाने की तो कहीं झलक भी नहीं है। सम्भवत प्रश्न कर्ता महोदय की यह धारणा आश्वलायन के प्रक्षिप्त भाग के आधार पर बनी है। परन्तु उनकी यह धारणा ठीक नहीं क्योंकि आर्य समाज वेदविरुद्ध सूत्र भाग को मानता ही नहीं।

४२—ऐतरेयब्राह्मण पंचिकाखण्ड ? में-पशु के अंग बाटने में जो जिस याजक के हिस्से में आता है उसको स्पष्ट रूप से बतलाते हैं कि (अर्थात् पशोर्विभक्तस्तस्य विभाग वक्ष्यामो हनू सजिह्वे प्रस्तोतु) मास काट कर देना (हनू) ठोडी और जिह्वा सहित प्रस्तोता का हिस्सा है। विशेष वृत्त पूरा मन्त्र पढने से मालूम होगा। कहिये महाशय जी क्या यही दयालु ईश्वर की आज्ञा है ? यदि है तो प्रमाण सहित लिखिये ?

४२—आप ने यह प्रश्न ऐतरेय ब्राह्मण की सातवीं पञ्चिका के प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय का आश्रय लेकर किया है। नि सन्देह यहां पर पशु के ३६ विभाग किये हैं। परन्तु ये विभाग यहा किस पशु के किये गये है इसे आप ने इसी ब्राह्मण में अन्यत्र खोजने की चेष्टा नहीं की। यदि आप ऐसा करते तो आप का यह प्रश्न अपने आप ही निर्मूल सिद्ध हो जाता। अस्तु ! इस पशु का स्पष्टीकरण हम ऐतरेय ब्राह्मण की ही कुछ पंक्तियों से, आगे चल कर करेंगे। सातवीं पंचिका से पहिली छठी पंचिका है उसमें कहीं भी किसी भी पशु का नाम नहीं लिया गया जिसके कि ये विभाग सातवीं पंचिका के आरम्भ में किये जाते। पहिली पंचिका में पशु के विषय को छेडा गया है, और वहां शतपथ ब्राह्मण की ही तरह ऐतरेय ने अपने भावों को स्पष्ट कर दिया है। शतपथ का स्पष्टीकरण कुछ तो हम प्रश्न २७ के उत्तर में लिख आये हैं और

कुछ आगे चल कर प्रश्न ४३ के उत्तर में लिखेंगे। शतपथ की तरह की ही आख्यायिका यज्ञ में पशुहिंसा का निषेध करने के लिये ऐतरेय ने भी आरम्भ की है। और अन्त में मेधा रहित होने से पशु हिंसा का निषेध करते हुए जो और चावलों को ही मेधा के बढ़ाने वाला बतला कर उन्हीं को, पशु (ज्ञान के बढ़ाने वाला) कहते हुए यज्ञ की हवि में उन्हीं का प्रयोग करने का विधान किया है। स्पष्ट कह दिया है "उत्क्रान्तमेधा अमेध्या पशवस्तमा-देतेषानाश्नीयात्" (इन में मेधा नहीं है, पशु अमेध्य हैं इस लिये इन्हें न खावे) (ऐतरेय पंचिका २ अ. १ ख ४) आगे चल कर नवें खण्ड में इसी प्रकरण को आरम्भ रखते हुए और "यज्ञ में किस पशु का आलम्भन करके पुरोडाश बनाया जावे," इसका उत्तर देते हुए लिखा है "सवा एष पशु रेवालभ्यते यत्पुरोडाश., तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि, येतुषाः सात्वक्, ये फलीकरणास्त-दसृक्, यत्पिष्ट किक्नसास्तन्मासम्, यत्किञ्चित्कसार तदस्थि"। यह ही पशु-आलम्भन है जो कि पुरोडाश है अर्थात् चावलों से बनाई हुई हवि है उस चावल के पेड़ के जो पलाल हैं वे ही बाल हैं। जो तुष हैं वे ही त्वचा हैं। जो चावल को कूट २ कर सफेद करने के लिये उसके ऊपर रक्त भाग अलग किया जाता है वह ही रक्त है। जो कि आटा और उसके सूक्ष्म अवयव हैं वे मास हैं। और जो चावल का और कठिन भाग है वह हड्डी है। इस प्रकार यहां चावल से बनाये गये पुरोडाश को पशु कहा गया है। ज्ञान के साधन का भी नाम पशु है क्योंकि यह शब्द दृश् धातु से जिसका कि अर्थ देखना है बना है। और पशु का नाम भी पशु है। इस प्रकार इस पुरोडाश की पशु के साथ शब्द की समता के कारण इसके भी पशु के तरह के अवयवों की कल्पना कर दी गई है। इसका पशु नाम बुद्धि प्रधान तत्व होने के कारण रक्खा गया है। अब पाठक समझ गये होंगे कि शतपथ की तरह ऐतरेय भी यज्ञ में पशु बध का निषेध कर चावल के पुरोडाशका विधान करता है।

४३—शतपथ श्रुति में लिखा है कि (एतद्वैपरमाम्नाद्य यन्मासम ११—७—१—३) अर्थात् मास ही सब आहारों में उत्तम और देवों के खाने लायक है। और इन शेष मास को याजकादि भक्षण करते हैं। यदि आप ब्राह्मण श्रुति को प्रक्षेप बतलावे तो स्वामी दयानन्द जी ने तो अपने लेख में प्रक्षेप कहीं नहीं लिखा और यदि लिखा तो प्रमाण दीजिये ?

४३—प्रश्न ३७ के उत्तर में हम शतपथ की ही दो कण्डिकाओं के आधार पर बतला आये हैं कि शतपथ यज्ञ में पशु हिंसा के सर्वथा विरुद्ध है। वह जो और चावलों को ही यज्ञ का पशु मानता है और उनकी हवि को ही यज्ञ के लिये उत्तम हवि कहता है। "शतपथ के उसी प्रकरण में आगे चल कर मास किस चीज को माना है" इस विषय को स्पष्ट करने के लिये हम शतपथ क ही शब्द आगे उद्धृत किये देते हैं। जौ और चावलों को पाक्त पशु बतलाने के बाद शतपथकार लिखते हैं—"यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति, यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति, यदा सयौत्यथ मास भवति, सन्तत इव हि तदा भवति सन्तत मिव हि मासम्, यदाश्रितोऽथास्थि भवति दारुण इव हिसतर्हि भवति दारुणमस्थि, अथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तमज्जानन्दधाति एवा वा सम्पद्यदाहु पाक्त पशुरिति। शतपथ १।२।१।८

भावार्थ—

जब इन जौ और चावलों का आटा बन जाता है उसे लोम कहते हैं। जो उसे गूदने के लिये पानी ले जाते हैं तो वह चर्म है। जब उसे गूद लेते हैं तो वह मास बन जाता है क्योंकि वह गठा हुआ है और मास भी गठा हुआ होता है। जब वह पका लिया जाता है तो उसका ऊपर का भाग हड्डी हो जाता है क्योंकि उस समय वह कठोर हो जाता है और हड्डी भी कठोर होती है। जब उसे ठण्डा करते हुए घी डालते हैं तो उसमें मज्जा का प्रवेश कराते हैं। यह ही वह वस्तु है जिसे कि यज्ञों में पाक्त पशु का नाम दिया गया है।

यज्ञ के पशु की परिभाषा का यह स्पष्टीकरण शतपथकार ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर दिया है ताकि आगे चल कर इसे पढने वाले लोग भ्रम में न पड़ जावें। शतपथ के मत में यज्ञ का पशु कौन है और उसका मास क्या है इसका ज्ञान पाठकों को इस प्रकरण को पढ कर भली भाति हो गया होगा। अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रही कि शतपथकार यज्ञ के जिस मास की प्रशसा करते हैं वह इसी मास की है।

४४—निरुक्त में यजुर्वेद अध्याय २१ मन्त्र ४३ के आधार से लिखा है कि —

मास मानन वा मानस मनोऽस्मिन् सीदति वा ४–२–३

मास मानन वा य एव हि मान्यो भवति तदर्थमेतत्सक्रियते।

मानस वा सुमनसा हि तदुपादीयते अथवा य एव हि मनस्विनो भवन्ति तैरुपादीयते। मनोऽस्मिन् सीदतीति वा, सर्वस्यैव हि मासे मन सीदति।

अर्थात्—मांस का नाम मांस क्यों है ?

१—जो पुरुष मान के योग्य हो उसके मान के लिये यह बनाया जाता है अत इसका नाम मास है।

२—प्रसन्न मन से ही वह ग्रहण किया जाता है अथवा जो श्रेष्ठ मन वाले पुरुष हैं उन्होंने ग्रहण किया है अत इसको मांस नाम से कहते हैं।

३—रसज्ञ सर्व मनुष्यों का मन इसमें जाता है इससे भी इसका नाम मास है।

इस प्रकार शतपथ श्रुति से निरुक्त में मांस की अधिक प्रशसा लिखी है और भी वेद मन्त्र के आधार से लिखी है। अब आप बतलावे कि इस निरुक्त के कथन को आप सत्य स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो जरा लिखिये क्यों ?

४४—यह प्रश्न आपने निरुक्त के एक पाठ का उद्धरण देकर किया है। निरुक्त के नाम से जो पाठ आपने दिया है वह केवल

निरुक्त का नहीं उसमें टीकाकार की टीका का पाठ भी सम्मिलित कर दिया है। निरुक्त का पाठ केवल इतना है "मांस माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीतिवा।"

(नि० नै० को० अ० ४ पा० १)

इसका अर्थ यह है "मांस मान्य होता है, मन को अच्छा लगता है, मन उसमें जाता है।"

यह मांस शब्द की निरुक्ति की गई है। प्रश्न होता है कि मांस का मांस नाम क्यों है। उत्तर दिया गया कि इसका मान किया जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मांसाहारी जन्तु इसका बड़ा मान करते हैं। उनके मन को यह प्यारा लगता है और उनका मन इसमें जाता है। निरुक्तकार के इस निर्वचन से मनुष्य के लिये मांस का विधान सिद्ध करने का कोई विशेष साधन नहीं। जिस मन्त्र को आप निरुक्त की इस व्याख्या का आधार बतला रहे हैं उसमें भी मांस का विधान नहीं है। उसका अर्थ आप ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य में पढ़ लीजिये।

४५—देवताओं के लिये जो मेध्य मांस दिया जाता है उसे अन्न कहते हैं और पितरों के अर्थ दिया जाता है उसे स्वधा कहते हैं। अब गीता पाप की निवृत्ति किस प्रकार बतलाती है—(यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै) यज्ञ से शेष बचे हुये अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। यज्ञ विषय में अन्न शब्द से हुत शेष मांस का ही ग्रहण है। और जब कि मांस खाने से पाप छुट जाता है तब पाप किससे होता है जरा लिखिये ?

४५—देवताओं तथा पितरों के लिये जौ और चावल के बने हुए पुरोडाश के जिस मांस का विधान है वह हम सैंतीसवें प्रश्न के उत्तर में शतपथ का प्रमाण देकर लिख आये हैं। उसे पढ़ कर आप जान सकेंगे कि यज्ञ शेष खाने वाला मांसाहारी नहीं, अन्नाहारी है। यज्ञ शेष एक परोपकार परायण कर्म से बचा हुआ जौ और चावलों का सात्विक अन्न है। उसके खाने से मन पवित्र होगा।

और मन क पवित्र होने से उसमें अच्छे विचार उठेंगे और पाप दूर होंगे। आपके उद्धृत गीता के श्लोक में भी ये भाव हैं।

४६—यजुर्वेद अध्याय १६ मन्त्र २० के भावार्थ में स्वामी जी ने लिखा है कि 'इस संसार में बहुत पशु वाला होम करके हुत शेष का भोक्ता वेदवित् और सत् क्रिया का कर्ता मनुष्य होवे सो प्रशंसा को प्राप्त होता है।' सो बहुत पशु वाला होम करके हुत शेष का भोक्ता मांस-भक्षी हो सकता है। और वेदविहित को न खावे तो वेद आज्ञा भङ्ग होने से वेद विरोधी व पतित भी समझा जाता है। अब आप बतलावें कि वेदों की श्रद्धा होने से आर्य शब्द रूढ़ि है या सार्थक? यदि सार्थक है तो लिखिये?

४६—ऋषि ने इस मन्त्र के भावार्थ में यह वाक्य जो कि आपने उद्धृत किया है अवश्य लिखा है। जिस यज्ञ मे बहुत से बहुमूल्य, सुन्दर तथा बहुत दूध देन वाले पशु प्रदर्शिनी के रूप में इकट्ठे किये जावें उसे ही बहुत पशुओं वाला यज्ञ कहते हैं। समझ में नहीं आता कि इसमें से भी मांस की गन्ध आपको कहां से आ गई। हुत शेष हलवा और खीर खाने वाले भी मांसाहारी हो जावेंगे यह नई युक्ति आप से आज ही सुनी है। वेद में यज्ञ में मांस का विधान है ही कहां, जिसे आप वेद विहित मांस कहते हैं। इस विषय को हम कई स्थानों पर पहिले भी प्रकट कर आये हैं।

४७—प्रथमबार के सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३०२ में स्वामी जी लिखते हैं कि 'कोई भी मांस न खावे तो जानवर, पक्षी, मत्स्य और जल जन्तु इतने हैं उनसे शत सहस्र गुणे हो जावें फिर मनुष्यों को मारने लगें और खेतों में धान्य ही न होने पावे फिर सब मनुष्यों की आजीविका नष्ट होने से सब मनुष्य ही नष्ट हो जाय।' स्वामी जी ने मांस खाने की तरकीब तो अच्छी बतलाई है। क्योंकि आजीविका व मनुष्यों के नष्ट होने के भय से मांस तो अवश्य खावेंगे ही। कहिये स्वामी जी की यह आज्ञा आप को स्वीकार है या नहीं?

४७—"यज्ञ में मांस" के विषय में ऋषि का मत हम प्रश्न

३६ के उत्तर में लिख आये हैं। यह सब लेखक पण्डितों की लीला थी जिसका कि ऋषि ने अपने जीवन काल में ही खण्डन कर दिया था।

४८—यजुर्वेद अध्याय २५ में (शाद दद्भि.) से आरम्भ करके (पृथिवीत्वचा) पर्यन्त नवकण्डिका है इनमें प्रत्येक देवता के अगों का समर्पण और घृत का हवन करना लिखा है जैसा कि (शाद दद्भिरवकादन्तमूलै रित्याज्यमवदानानि कृत्वा प्रत्याख्याय देवताभ्य आहुतिर्जुहोति या एव देवता अपि भागास्ताभागधेयेन समर्धयति) १३-३-४-१ इति श्रुते। और रामायण काण्ड १ सर्ग १४ श्लोक ३७ में लिखा है कि—तब श्रुतिकार्यवित् जितेन्द्रिय ऋत्विज उस घोड़े की चर्बी ले शास्त्रानुसार होम करने लगे। इस प्रकार मन्त्रों में देवताओं के निमित्त अश्व के अग अर्पण करने लिखे हैं। यदि यह बात वेद विरुद्ध है तो वेदानुकूल क्या है? लिखिये।

४८—इस प्रश्न में "शाद दद्भिरवकादन्तमूलै रित्याज्य मवदानानिकृत्वा प्रत्याख्याय देवताभ्य आहुतिं जुहोति या एव देवतास्ता भागधेयेन समर्धयति" इस विधि वाक्य के आधार पर आप यजुर्वेद की नौ ऋचाओं से घोडे के अङ्गों का समर्पण और घी की आहुति का विधान बतलाते हैं। हम इस विधि वाक्य का और उन नौ मन्त्रों में से भी पहिले एक मन्त्र का अर्थ नीचे किये देते हैं। जिसे पढ कर पाठक यह जान सकेंगे कि यहा घोडे के अगों के समर्पण का विधान है या नहीं।

"शाद दद्भि·वकान्दन्त मूलै इन नौ ऋचाओं से, विभाग करके नाम लेकर देवताओं के निमित्त घी की आहुतियें डालता है, जिस जिस देवता का जो जो भाग है उसे वह देकर बढ़ाता है।" इस वाक्य में घोडे के अगों का नाम कहीं भी नहीं आया। यदि घोडे का नाम आभी जाता तब भी शतपथ की आरम्भ में की गई व्याख्या के अनुसार जौ और चावलों के आटे का बना हुआ

पुरोडाश ही लिया जाता। यजुर्वेद के उस एक मन्त्र का अर्थ आगे पढ़िये।

"शाद दद्भिरवकान्दन्त मूलैर्मृद वर्स्वैस्ते दृष्ट्राभ्यां सरस्वत्या अग्रजिह्व जिह्वाया उत्सादमवक्रन्दनेन तालु वाज हनुभ्यामप आस्येन वृषणमाण्डाभ्याम्। आदित्यान् श्मश्रुभि पन्थान भ्रूभ्याम् द्यावापृथिवी वर्तीभ्या विद्युत कनीनकाभ्या शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि यद्माण्य वार्या इक्षवोऽवार्याणि पद्माणि पार्या इक्षव।" यजु० २५।१

(शादम्) रगडने वाली अर्थात् दातन को (दद्भि) दांतों के साथ सयुक्त कराक (अवका मृदम) रक्षा करने वाली मिट्टी को अर्थात् दांतों जाडों और मसूड़ों का खून बन्द करने वाली सग जराइत आदि मिट्टी को (दन्त मूलै वर्स्वै) दातों की जड़ों और मसूड़ों से सयुक्त कराके, (सरस्वत्यै) पवित्र वेदवाणी के उच्चारण के लिये (जिह्वाया अग्रजिह्वम्) जीभ के अग्रभाग को (दृष्ट्राभ्याम्, उत्साद तालु) दांतों कण्ठमूर्धा और तालु आदि स्थानों से सयुक्त कराके "यहा तृतीया के अर्थ में प्रथमा है"

(अवक्रन्दनेन) विशुद्ध उच्चारण सिखा कर (अन्नम्) भोजन को (हनुभ्याम्) जबाड़ों से सयुक्त करा कर अर्थात् अच्छी तरह चबा २ कर खाने का उपदेश देकर (अप, आस्येन) पानी का मुख से उपयोग सिखा कर अर्थात् आचमन करना तथा उचित मात्रा में जल पीना सिखा कर (वृषणम) वीर्य शक्ति को (आण्डाभ्याम्) वीर्यधारक यन्त्रों से सयुक्त कराके अर्थात् वहा स्थिर करने का उपदेश देकर (श्मश्रुभि) दाढी मूछों से (आदित्यान्) जटाजूट रहने वाले प्राचीन ऋषि मुनि विद्वानों की याद दिला कर (भ्रूभ्याम) भोहो से (पन्थानम्) मार्ग देखने का ढङ्ग बतलाकर अर्थात् जिस प्रकार भौंहें नीचे झुकी हुई है उसी प्रकार नीचे देख कर चलो यह उपदेश देकर, (वर्तीभ्याम्) नेत्र के दोनों भागों से (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक की विद्या का उपदेश देकर=अर्थात् जिस प्रकार तुम्हारी आखों के दोनों भाग तुम्हारी

दृष्टि के साथ हैं उसी प्रकार भूलोक और द्युलोक सम्बन्धी सब विद्याएं तुम्हारी बुद्धि रूपी दृष्टि के निकट हैं यह उपदेश देकर (विद्युतम्) बिजली की ज्योति को (कनीनकाभ्याम्) आखों के दोनों तारों से धारण कराके (शुक्लाय स्वाहा) नेत्र के सफेद भाग को स्वच्छ रखने का उपदेश देकर (कृष्णाय स्वाहा) नेत्र के कृष्ण भाग को स्वच्छ रखने का उपदेश देकर (पार्याणि पक्ष्माणि) पालन करने वाली पलकें हों अर्थात् तुम्हारी आंख की एक २ पलक दीन और दुखियों का पालन करने के लिये झपके ऐसा उपदेश देकर (अपार्या इक्षव) न दूर होने वाला मिठास हो, अर्थात् तुम्हारे जीवन में ऐसा मिठास हो जो कभी दूर न हो सके (अवर्याणि) न दूर होने वाले (पक्ष्माणि) पक्ष हों=सिद्धान्त हों अर्थात् तुम्हारे जीवन क्षेत्र के लिये निश्चित किये हुए सिद्धान्त ऐसे हों जिनसे कभी विचलित न हो सको (पार्या) भाव के पूरा करने वाले (इक्षव) गन्ने की तरह के मीठे वचन हों। यह इस मन्त्र का अर्थ है भाव यह है कि ऐसे उपदेश सुनाकर गुरुलोग अपने शिष्यों को योग्य बनावें।

हम यहां इन नौवों कण्डिकाओं का अर्थ भी लिख देते परन्तु लेख बहुत बड़ा हो जावेगा और हाडी के एक चावल को देखकर शेष का पता लगाना कठिन नहीं अतः इस एक का अर्थ लिख देना ही पर्याप्त समझते हैं। अब पाठक समझ गये होंगे कि विधि वाक्यों मे भी और इस मन्त्र में भी घोड़े के अङ्गों का कहीं नाम भी नहीं है। प्रश्न कर्ता की लिखी हुई शेष आठ कण्डिकाओं में भी इस विषय का उल्लेख नहीं है।

४६—यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र १ के भावार्थ में स्वामी जी ने लिखा है कि 'अध्यापक लोग अपने शिष्य के अङ्गों को उपदेश से अच्छे प्रकार पुष्ट करें' और मन्त्रार्थ में लिखा है कि '(आण्डाभ्याम्) वीर्य को अच्छे प्रकार धारण करने हारे आण्डों से (वृषण) वीर्य वर्षाने वाले अङ्ग को।' अब पूछना यह है कि यह अर्थ वेद व प्रकरण के अनुकूल है या विरुद्ध ? और गुरू अपने

आएडों से चेले के आरडों की पुष्टि किस प्रकार करे इसे स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया। क्या इस मंत्र में गुरू चेले के व्यवहार का वर्णन है ? यदि है तो लिखिये।

४६—मुझे इस प्रश्न को पढ कर बड़ा खेद हुआ है। खेद इसलिये नहीं कि आपने आक्षेप किया है, आक्षेप सुनने और शान्ति से उसका उत्तर देने के लिये तो हम हर समय सन्नद्ध हैं। खेद इसलिये है कि क्या एक विद्वान् भी अपनी लेखनी से ऐसे शब्द लिख सकता है जिन्हें आचार से पतित लोग भी लेख में लाने का साहस नहीं करते यदि यह लेख किसी सत्य के आधार पर होता तब भी मुझे ये शब्द लिखने की आवश्यकता न पड़ती परन्तु ऐसा है नहीं। लेखक ने यह जानते हुए भी कि ऋषि ने अपने भाव स्पष्ट रूप से भावार्थ में प्रकट कर दिये हैं, फिर भी एक मन घडन्त दूषित भाव निकाल कर ये घृणित विचार प्रकट किये हैं। अस्तु ! मैं यहां जैसे का तैसा उत्तर देना तो अपना पतन समझता हूँ, पाठकों के ज्ञान के लिये ऋषि दयानन्द का वह भावार्थ उद्धृत किये देता हूँ जिसे कि प्रश्न कर्ता ने जानते हुए भी छिपाते हुए, ये विपरीत भाव प्रकट किये हैं।

भावार्थ में ऋषि के शब्द निम्न हैं। भावार्थ—"अध्यापक लोग अपने शिष्यों के अङ्गों को उपदेश से अच्छे प्रकार पुष्ट कर तथा आहार वा विहार का अच्छा बोध, समस्त विद्याओं की प्राप्ति, अखण्डित ब्रह्मचर्य का सेवन और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराके सुख-युक्त करें"। पाठक महर्षि के इन शब्दों को पढे और प्रश्न कर्ता के प्रश्न को भी।

इस मन्त्र का अर्थ हमने अडतालीसवें प्रश्न के उत्तर में विस्तार से किया है।

आप हर समय प्रकरण की रट लगाया करते हैं। सम्भवत आपने सूत्र ग्रन्थों और उन सूत्र ग्रन्थों, जिनमें कि पर्याप्त मात्रा में

प्रक्षेप है, के आधार पर किये याज्ञिक व्याख्यान को ही व्याख्यान समझ लिया है और उस क्रम को ही आप प्रकरण समझते हैं। वेद के नैरुक्तिक अर्थात् वैज्ञानिक व्याख्यान को आप व्याख्यान ही नहीं समझते)। ऋषि दयानन्द ने वेदों का व्याख्यान किन्हीं विशेष याज्ञिक प्रक्रियाओं का बोध कराने के लिये नहीं प्रत्युत वैज्ञानिक पद्धति से वेदों के आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विषयों को, जोकि कभी एक-एक कभी दो दो औ कभी तीन-तीन भी एक-एक मन्त्र में पाये जाते हैं, मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकट करने के लिये किया है। अत अक्षरश ब्राह्मणों के याज्ञिक प्रकरण का अनुसरण न उनके लिये आवश्यक था और न सम्भव। (हा शब्दार्थ में वेदानुकूल ब्राह्मण भाग का अनुसरण उन्होंने अवश्य किया है)

५०—आर्य पण्डित उदयनारायणसिंह ने आगरा से प्रकाशित होने वाले १ सितम्बर १६१८ के आर्य-मित्र में वेदों में तिथिया, शीर्षक देकर एक लेख प्रकाशित कराया है और तिथियों की सिद्धि के लिये यजुर्वेद का मत्र इस प्रकार लिखा है कि (अग्नि पक्षति वायो-र्निपक्षति-रिन्द्रतृतीया। यजुर्वेद २५-४) पक्षति निपक्षति द्वितीया। इस प्रकार प० जी ने तिथिया और स्वामी दयानन्द जी ने अपने यजुर्वेद भाष्य में क्रियायें लिखी है परन्तु (षड्-विंशतिरश्वस्य वक्रय इति कौषीतब्र०) घोड़े की चब्बीस हड्डिया होती हैं तिनमें से तेरह हड्डियों के अतिरिक्त तेरह तिथिया बत-लाना जनता को सरासर धोखा देना है। यदि आर्य प० जी का कहना सत्य है तो लिखिये ?

५०—हम पहिले प्रश्न के उत्तर में लिख आये है कि एक २ वेद मन्त्र मे कई प्रकार के भावों का सन्निवेश रहता है व्याख्याता अपनी इच्छा के अनुसार उसके किसी भी भाव को प्रकट कर सकता है। अत किसी व्याख्याता का भावान्तर निकाल लेना कोई दोष नहीं है। यह भी हम लिख आये हैं कि सूत्र ग्रन्थों के प्रक्षिप्त

अथवा वेद विरुद्ध भाग का आर्य समाज उत्तरदाता नहीं।'

५१—आर्यसमाज की मान्यता है कि जो बात वेदानुकूल है उसी को हम मानते हैं। परन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि स्वामी दयानन्द जी का यजुर्वेद भाष्य और आर्य साहित्य मण्डल अजमेर की तरफ से प्रकाशित यजुर्वेद भाष्य ये दोनों ही वेद व निरुक्त तथा प्राचीन ऋषि प्रणाली के सर्वथा विरुद्ध हैं। यदि आप वेदानुकूल समझते हैं तो लिखिये ?

५१—ऋषि दयानन्द का वेद-भाष्य वेदानुकूल आर्ष प्रणाली के सर्वथा अनुकूल है। अन्य आर्य ग्रन्थों के वेद विरुद्ध भाग का अनुसरण करना ऋषि के लिये आवश्यक नहीं क्योंकि वे ऐसे भावों को ऋषियों की ओर से आय हुए मानते ही नहीं।

५२—आपने दोनों यजुर्वेद भाष्य वेद के विरुद्ध तो बतला दिये परन्तु विरुद्धता के लिये कोई प्रमाण नहीं लिखा। यदि ऐसा कहें तो इसके लिये यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ९६१ को पढो। देखिये वह मन्त्र इस प्रकार है (चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा इति) इस मन्त्र पर स्वामी जी ने भाष्य इस प्रकार लिखा है कि 'हे मनुष्यो तुम जिस (अस्य) इसके (त्रय) प्रात सवन, मध्यन्दिन सवन और साय सवन ये तीन (पादा) प्राप्ति के साधन (चत्वारि) चार वेद (शृङ्गा) सींग (द्वे) दो (शीर्षे) अस्तकाल और उदयकाल शिखा जिस (अस्य) इसके (सप्तहस्तास) गायत्री आदि छन्द सात हाथ हैं व जो (त्रिधा) मन्त्र ब्राह्मण और सूत्र इन तीन प्रकारों से (बद्ध) बधा हुआ (मह) बड़ा (देव) प्राप्त करने योग्य (वृषभ) सुखों को सब ओर से वर्षाने वाला यज्ञ (रोरवीति) सवनक्रम से शब्द करता हुआ (मर्त्यान्) मनुष्यों को (आविवेश) अच्छे प्रकार से प्रवेश करता है उसका अनुष्ठान करके सुखी होओ। वेद में यज्ञ को मन्त्र ब्राह्मण और सूत्रों द्वारा ही बधा हुआ बतलाया है, खुला हुआ नहीं। इसी प्रकार निरुक्त में लिखा है फिर कर्मकाण्ड को छोड कर राज्य मार्ग की आज्ञा आप को

किस वेद मन्त्र से मिलो इसे नरा प्रमाण सहित लिखे ?

५२—(आपने अपने ' प्रश्न मे तो तर्क का दिवाला ही निकाल दिया है। ऋषि के वेदार्थ को वेद विरुद्ध सिद्ध करने की आपकी प्रतिज्ञा है और हेतु यह दे रहे हैं कि वेद कहता है कि यज्ञ, मन्त्र ब्राह्मण और सूत्रों से बधा हुआ है) श्रीमान् जी यदि यज्ञ, मन्त्र ब्राह्मण और सूत्रों से बधा हुआ है तो बधा रहे। यज्ञ के बध जाने से वेद क्यों मन्त्र ब्राह्मण सूत्रों से बध जावेगा। यज्ञ और वेद समानार्थक तो हैं नहीं। हा यज्ञ भी वेद के प्रतिपाद्य विषयों में से एक है जिसका कि विधान ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में तथा वेद में भी पाया जाता है। और यज्ञ के अतिरिक्त भी वेद में अनेक विषयों का व्याख्यान है। अत वेद के भाष्यकार को यज्ञ के अतिरिक्त अन्य आधिभौतिक आदि अर्थों के प्रकाश करने में भी स्वतन्त्रता है। देखिये ऋग्वेद क्या कहता है—"महो अर्ण सरस्वती प्रचेतयति केतुना धियो विश्वा विराजति" (सरस्वती) वेदवाणी (महो अर्ण) महा ज्ञानसागर है, (केतुना) विज्ञान से (प्रचेतयति) सावधान करती है (विश्वाधियः) सारे विज्ञान (विराजति) उससे प्रकाशित होते हैं।

इसलिये विशारद जी ? महर्षि का वेद-भाष्य सर्वथा वेदानुकूल है। कृपया आंख खोल कर पढा करें।

५३—वेद मे कर्मकाण्ड के विधायक अनेक मन्त्र मौजूद हैं जैसा कि (समुद्र गच्छ स्वाहा, देवसवितारं गच्छ स्वाहा। ६–२१) इत्यादि अनेक मन्त्रों में याज्ञवल्क्य ऋषि ने स्वाहा शब्द का प्रयोग किया है। यदि वेद में किसी भी मन्त्र के साथ कर्मकाण्ड का चिन्ह और शतपथ व सूत्रों का विधान न होता तो आज अनर्थ करने को अच्छा अवसर मिल जाता। अब आप ही बतलावे कि स्वामी जी ने वेद विरुद्ध अर्थ कर कर्मकाड को सर्वथा नष्ट भ्रष्ट किया या नहीं ? यदि नहीं तो प्रमाण क्या ?

५३—वेद में कर्मकाण्ड है, इसका कोई निषेध नहीं करता।

परन्तु वेद में कर्मकाण्ड ही है, ज्ञान काण्ड और उपासनाकाण्ड नहीं हैं यह आपने कैसे निश्चय कर लिया। ज्ञान काण्ड के लिये हम ऊपर ५२ प्रश्न के उत्तर मे प्रमाण दे ही आये हैं। और उपासना के मन्त्रों से वेद के सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं। जब यह स्थिति है तो फिर वेदों के भाष्य केवल कर्म परक ही किये जाए यह आप क्यों आशा करते हैं।

५४—गोमेध यज्ञ–अथर्ववद काड १० अनु० ५। अघायताम्–सूक्त आहुत्यर्थ गोमेध में विनियुक्त है। वह वन्ध्या गाय शतौदना कहलाती है। उसके वध से, उसके मांस की आहुति से जो यजन होता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्रि से भी श्रेष्ठ है। हे गौ तू हनन कर्ताओं से मत डर, तू देवी हो जावेगी, स्वर्ग में देवता तेरी रक्षा करेंगे और जो तुझे मारता, पकाता और जो आहुति देता है वह उत्तम स्वर्ग में जाता है। इस प्रकार यह सूक्त २७ मन्त्रों का है। इसमे मारने वाला और मरने वाली गौ दोनों ही स्वर्ग में जाते हैं। यदि वेद की यह बात सत्य है तो गौ हनन कर्ताओं के साथ विरोध क्यों किया जाता है और इस वेद की श्रद्धा व आज्ञा का पालन करता आर्य हो सकता है या नहीं लिखिये ?

५४—आपके इस प्रश्न का उत्तर लिखने के लिये एक बडी पुस्तक लिखने की आवश्यकता है। यहा वशा सूक्त एक नहीं दो हैं। जिनमें से एक सूक्त में २७ और दूसरे में चौंतीस मन्त्र हैं। इन दोनों सूक्तों की व्याख्या किये बिना "वशा क्या वस्तु है" यह समझना कठिन है। और इस विस्तृत व्याख्या के लिये एक पूरी पुस्तक चाहिये। तथापि वशा का कुछ स्वरूप पाठकों के सामने आ जावे इसलिये हम इन दोनों सूक्तों में से कुछ मन्त्रों का भावार्थ नीचे लिखेंगे।

इन दो सूक्तों में से पहले दो सूक्त ब्रह्म सूक्त हैं। और उनसे आगे के ये दो सूक्त वशासूक्त हैं। वशा नाम गौ का भी है और प्रकृति

का भी। प्रकृति को वशा इसलिये कहते हैं कि वह ब्रह्म के आधीन है=वश में है। अत इन सूक्तों का नाम वशासूक्त भी है और प्रकृतिसूक्त भी। इन सूक्तों मे गौ की उपमा देकर प्रकृति का वर्णन किया गया है। जबकि गौ की उपमा यहा दी गई तो उसके सब अगों की कल्पना भी प्रकृति देवी के अन्दर करनी ही चाहिये थी। और ऐसा ही इन दोनों सूक्तों मे किया गया है। इन्हीं सूक्तों मे गौ का नाम शतौदना (सैंकडों प्रकार के चावलों वाली) अर्थात् सैकडों प्रकार की भोग्य सामग्री से सम्पन्न भी है। और भोग्य सामग्री से सम्पन्न है प्रकृति, अत इस विशेषण से भी सिद्ध होता है कि इस प्रकरण की वशा प्रकृति है। इन सूक्तों मे वशा को पहिले अग्निष्टोम की और फिर अतिरात्र की ओर चलने के लिये कहा गया है। अग्निष्टोम और अतिरात्र भी प्रकृति की दो अवस्थाए ही हैं जिनमे कि प्रकृति को प्रलय के बाद जाना पड़ता है। जिस प्रकार अग्नि की प्रशंसा की जाती है उसी प्रकार जिस अवस्था मे सारी प्रकृति की प्रशसा की जा सकती हो प्रकृति की उसी अवस्था का नाम अग्निष्टोम है। और वह अवस्था है प्रकृति का पहिला परिणाम महत्तत्त्व=बुद्धि या इलक्ट्रोन। इसके बाद प्रकृति को जिस अवस्था में जाना पड़ता है उसका नाम है अतिरात्र। रात्रि नाम प्रलय या प्रकृति की सूक्ष्म अवस्था का है। और उसका उलटा अतिरात्र है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति की अतिरात्र अवस्था सृष्टि या उसका स्थूल रूप है। इस अतिरात्र अवस्था में पहुँच कर ही प्रकृति शतौदना कहलाती है। जब यह प्रकृति पृथिवी के रूप में आती है तो विद्वान् लोग इसे काट काट कर अन्न आदि भोग देने के योग्य बनाते है वे ही इसके शमिता या काटने वाले हैं। फिर दूसरे लोग इसे हल जोत २ कर और खाद डाल २ कर पकाते हैं, वे ही इसके पक्ता या पकाने वाले हैं। इसी भाव को प्रकट करने वाला यह मन्त्र है।

"ये ते देवि शमितार पक्तारोयेच ते जना । ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषी शतौदने।" अथर्व का० १० सू० ९ म० ७

भावार्थ—हे शतौदने प्रकृति ? जो तेरे काटने वाले हैं—और जो तेरे पकाने वाले हैं वे ही तेरी रक्षा करेंगे इनसे मत डर।

यह ठीक भी है कि भूमि के जिस भाग को जिसने काट २ कर सीधा किया है और जिसने हल जोत २ कर और खाद डाल २ कर उसे पकाया है वह ही उसका रक्षक या स्वामी हो। इस प्रकार वेद ने भूमि के निर्माण का उपदेश देते हुए अधिकार की व्यवस्था भी साथ ही साथ कर दी है।

इस मन्त्र की शतौदना वशा को प्रकृति का एक भाग भूमि मान लेने पर तो सगति ठीक लग जाती है परन्तु यदि प्रश्नकर्ता के लेख के अनुसार इसे गौ मान ले तो मन्त्र का अर्थ सगत नहीं होता। जिस गौ को काट दिया गया और फिर पका भी लिया गया तो फिर उसकी रक्षा कैसी और उसका रक्षक किसका रक्षक होगा। किसी मनुष्य को काट कर और पका कर खा जाने वाले क्या उसके रक्षक कहे जा सकेंगे। जो प्राणी रहा ही नहीं फिर उसकी रक्षा कैसी। और फिर जो उसके घातक वे ही उसके रक्षक ! अत इस प्रकरण की वशा गौ नहीं हो सकती। इसी विषय की पुष्टि में अथर्व का एक और मन्त्र पढिये—

'ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये येचेमे भूम्या मधि। तेभ्यस्त्व धुक्ष्व सर्वदा क्षीर सर्पिरथो मधु।' अथर्व का० १० सू० ६ म० १२

भावार्थ—जो देव द्युलोक में अन्तरिक्ष लोक में और भूमि लोक में हैं हे शतौदने ! तू उन्हें सदा दूध घी और मीठा देती रह।

कोई गौ जो मार दी गई है वह तीनों लोकों के रहने वाले लोगों को दूध और घी सदा किस प्रकार देती रहेगी। और फिर वह शहद या चीनी कहा से लाकर देगी। प्रकृति देवी तो सदा तीनों लोकों के प्राणियों को इस प्रकार के भोग्य पदार्थ देती ही रहती है। अत इस प्रकरण की वशा गौ नहीं प्रकृति है। आगे और पढ़िये—

"शत कसा शत दोग्धार शत गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्या ।
ये देवास्तस्या प्राणन्तिते वशा विदुरेकधा।" अथर्व का० १० सू० १० म० ५

भावार्थ—इसकी पीठ पर सकडों पात्रों में सैकडों दुहने वाले और सैकड़ों इसके रक्षक हैं। जो विद्वान् इससे जीविका पा रहे हैं वे इसे एक प्रकार से जानते हैं।

एक गौ की पीठ पर सैकडो दुहने वाले कैसे हो सकते हैं। और फिर ऐसी अवस्था में जब कि उसका बध कर दिया गया हो। पृथिवी की पीठ पर बैठे हुए तो सैकड़ों प्राणी अपना भोग उससे दुह ही रहे है। इस लिये इस प्रकरण की वशा प्रकृति ही है, गौ नहीं। आगे चल कर छठे मन्त्र मे वशा को पर्जन्य पत्नी (मेघ की स्त्री) कहा है। यदि इस प्रकरण की वशा गौ हो तो गौ मेघ की पत्नी किस प्रकार कही जा सकती है। पृथिवी को तो मेघ की पत्नी कहा जा सकता है क्योंकि उसी से सींची जाने पर पृथिवी में सब कुछ पैदा होता है। इस लिये इस प्रकरण की वशा प्रकृति ही है गौ नहीं। एक और हेतु—

अपस्त्व दुग्धे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे।
तृतीय राष्ट्र दुग्धे ऽन्न क्षीर वशे त्वम्। ८।

भावार्थ—हे वशा पहिले तू जल को देती है। और फिर जब तू उपजाऊ हो जाती है तो श्रेष्ठ राष्ट्र भी तेरे ही अन्दर पैदा होते है। गौ के अन्दर से दूध तो निकल सकता है परन्तु अन्न जल और राष्ट्र उसमें किस प्रकार उत्पन्न होगा। पृथिवी रूप प्रकृति में से तो ये सारी चीजे निकलती ही हैं। अत इस प्रकरण की वशा प्रकृति ही है, गौ नहीं। एक और प्रमाण—

वशा यज्ञ प्रत्यगृह्णान् वशा सूर्यमधारयन्।
वशाया मन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह। २५।

भावार्थ—वशा में ही यज्ञ रचाया जा रहा है। वशा में ही प्राणियों के भोग और भोगों को देने वाले भगवान् बसते हैं। इस मन्त्र के भावार्थ को पढ़ कर पाठक स्वय निर्णय कर ले कि इस

प्रकरण की वशा प्रकृति है या गौ। और भी—

वशा मेवामृत माहुर्वशा मृत्यु मुपासते।

वशेद सर्वमभवन् देवा मनुष्या असुरा पितर ऋषय ।२६।

भावार्थ—वशा को ही अमर और वशा को ही मरने वाली कहते हैं। देव, मनुष्य, असुर, पितर, ऋषि ये सब प्रकार के मनुष्य वशा से ही बने हैं।

पाठक व्यवस्था दे कि क्या कभी गौ भी अमर हो सकती है, और क्या सारे ससार के मनुष्यों की उत्पत्ति गौ से हो सकती है ?। प्रकृति तो अनादि अमर भी है और परिणामशील होने से मरने और पैदा होने वाली भी। सब मनुष्यों के शरीर प्रकृति देवी की गोद में से ही निकलते हैं। इस प्रकरण की वशा प्रकृति है, गौ नहीं।

श्रीमान जी वेद के आलङ्कारिक प्रकरणों का समझना साधारण बात नहीं है। कृपया उपक्रम और उपसहार को ध्यान मे रखते हुए सारे प्रकरण का भाव समझने की चेष्टा किया करें।

४४—यजुर्वेद अध्याय ३५ मन्त्र २० मे पितरों की तृप्ति के निमित्त गाय की वपा अर्थात् चिकनी चर्बी का हवन करना इस प्रकार लिखा है—(अह वपा जातवेद पितृभ्यो जातवेदो देवतया। त्रिष्टुपछन्द । मध्यमा गवा तस्य वपा जुहोति, वपा जातवेद पितृभ्य ३–३ पारस्करसूत्रम) मध्यमाष्टका गोपशु द्वारा करिये हैं तिस धेनु की वपा को होमें, अह वपामिति मन्त्रेण।' इस मन्त्र मे गाय की वपा अर्थात् चर्बी पितरो के निमित्त देनी लिखी है। और पितरों के निमित्त होम देने के पश्चात् हुत-शेष का भक्षण करना भी श्रुति विहित है। अब आप बतलावे कि इस वेद आज्ञा को स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो क्यों ? लिखिये।

४५—आप सूत्र ग्रन्थों के आधार पर वेद मन्त्रों का भाव जानने की चेष्टा करते है। और ऋषि के ग्रन्थों मे आप पढ चुके होंगे कि ऋषि दयानन्द किसी भी ग्रन्थ के उस भाग को नही मानते जो वेद विरुद्ध हो। प्राणिवध के वेद विरुद्ध होने में हम पहिले वेदों के प्रमाण दे आये हैं। अत इन ग्रन्थों के उत्तरदाता हम नहीं।

हां साक्षात् वेदों में से जिन्हें कि हम स्वत प्रमाण मानते हैं आप कहीं से भी कुछ पूछे हम उत्तर देने के लिये तैयार हैं। जिस मन्त्र के द्वारा आपने गौ की वपा पितरों को भेजनी सिद्ध की है उसमें गौ का कहीं नाम भी नहीं। यह मन्त्र जिन दो मन्त्रों के बीच मे है उनके दो २ अर्थ हैं। और इस मन्त्र का अपने से पहिले और पिछले मन्त्र के साथ अर्थ भेद से सम्बन्ध है। तीनों मन्त्रों का अर्थ और उसकी सगति नीचे पढिये—

> क्रव्याद मग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाह ।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो यज्ञं वहतु प्रजानन ।
>
> यजु० अ० ३५ म० १९

एक अर्थ—मैं मांसाहारी अग्नि को दूर भेजता हूँ। वह दुर्गन्धित पदार्थों का ढोने वाला यमराज्य मे जावे। दूसरा जातवेदा अग्नि यहां हमारे पास ही रहे। और वह ज्ञानी की तरह देवताओं को हवि पहुँचाता रहे। इस मन्त्र मे दो प्रकार के अग्नि है। इनमे से एक अग्नि क्रव्याद अर्थात् मांस खाने वाला है। वह श्मसान चिता का अग्नि है। और दूसरा अग्नि जातवेदा है अर्थात् ज्ञानी की तरह सुख देने वाला है। वह यज्ञ का अग्नि है। इस मन्त्र मे क्रव्याद अग्नि को नगर से दूर रखने का उपदेश दिया है और जातवेदा अग्नि को अपने पास घर में रखने की आज्ञा दी है। चिता मे रक्खे हुए प्रेत मनुष्य के चर्बी और मेद आदि को प्रेत अग्नि खाकर अथात् परमाणुओं में विभक्त करके यमराज्य में पहुँचाता है। जिन्होंने निरुक्त को पढ़ा है वे वेद के यम और पितरों को भली-भांति जानते है। इनकी गणना निरुक्त मे मध्यम स्थानीय देवगणों में है। मध्यम स्थान अर्थात् अन्तरिक्ष (आकाश) के ये सारे ही देव वायु और विद्युत् के विशेष भेद हैं। वायु के उस भाग को जो कि चिता से गये हुए दुर्गन्धित पदार्थ को ग्रहण करता है और फिर शुद्ध करके मेघों द्वारा भूमण्डल पर भेजता है, यम और पितर नाम दिया गया है। आकाश मे जहां कि ये देवगण रहते हैं उसी का नाम यमराज्य है।

मन्त्र का दूसरा अर्थ

(क्रव्यादम्) मांसाहारी (अग्निम्) अग्नि की तरह दूसरों को तपाने वाले को (दूरम्) दूर रख। (रिप्रवाह) वह पाप का ढोने वाला (यमराज्यम्) न्यायाधीश के दर्बार में (गच्छतु) जावे। (अयम् इतरः जातवेदाः) यह दूसरा मांस न खाने वाला ज्ञानी (इह) यहां ही रहे। (देवेभ्य) विद्वानों के लिये (हव्यम्) यज्ञ के योग्य पदार्थों को (प्रजानन्) जानता हुआ (वहतु) पहुँचाता रहे।

इस मन्त्र में मांसाहारी को दण्ड दिलाने का और मांस न खाने वाले ज्ञानी को पास रखने का उपदेश दिया है। इससे आगे वाला मन्त्र पढ़िये—

"वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके। मेदसः कुल्या उप तान् स्रवन्तु सत्या एषा माशिषः सन्नमन्तां स्वाहा। २०।

एक अर्थ

हे क्रव्याद अग्नि ? इस मृतक की चर्बी को आकाश में पितर नामक वायु के पास ले जा। मेद की सब नाडियों का रस भी उसी के पास ले जा। इन पदार्थों के यथार्थ रूप, आशीर्वाद होकर हमारी तरफ झुके और सुखदायक हों। यह दिखलाया गया है कि मृतक प्राणी के शरीर विभिन्न अवयव, पितर नामक वायुमण्डल में जाते हैं। और वहां से सुखदायक होकर भूमण्डल पर आते हैं। ऊपर के मन्त्र से इस अर्थ में इस मन्त्र की सङ्गति है। इसी मन्त्र के ऊपर प्रश्न किया है परन्तु इसमें उनके निर्दिष्ट विषय का कहीं नाम भी नहीं है।

दूसरा अर्थ

(जातवेद) हे ज्ञानी पुरुष ? (पितृभ्य) रक्षक—महापुरुषों के पास (वपां वह) बीज बोने योग्य भूमि को पहुँचा (यत्र एतान् पराके निहितान् वेत्थ) जहां इन्हें कष्ट में पड़े हुओं को जानता हो। (मेदसः कुल्या) भारी २ नहरें (तान् उप स्रवन्तु) उनके पास

वहा दे। (एषा मत्या आशिष) इनके साधु आशीर्वाद (मन्त्रमन्तु स्वाहा) सबको प्राप्त हों, सुखदायक हों।

मन्त्र में यह प्रकट किया गया है कि अच्छी भूमि और पानी की नहरें उन्हीं के पास होनी चाहिये जो प्राणीमात्र के भले की इच्छा रखते हों। इस मन्त्र के इस अर्थ का आगे वाले मन्त्र के साथ सम्बन्ध है। वह मन्त्र यह है—

स्योना पृथिविनोभवानृत्तरा निवेशिनी।
यच्छान शर्म सप्रथा अपन शोशुचदघम ।२१।

पृथिवी हमारे लिये सुखदायक निष्कण्टक और बसाने वाली हो। वह विस्तार से हमे कल्याण दे। और हमारे दुःखदायक कर्म दूर हों।

भूमि हमारे लिये निष्कण्टक और बसाने वाली तब ही हो सकती है जब कि वह ऐसे पुरुषों के हाथ मे हो जोकि प्रत्येक प्राणी का कल्याण चाहते हो। दूसरी तरह के लोग तो वहा बसने वाले प्राणियों को दुःख देंगे और उजाड देंगे। पाठक ध्यान से पढ़ेंगे तो पता लगेगा कि बीसवें मन्त्र के दूसरे अर्थ का इस मन्त्र के अर्थ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी पाठक समझ गये होंगे कि बीसवें मन्त्र के दोनों ही अर्थों से गौ की वपा होम करने का कोई भी भाव नहीं टपकता। आगे पीछे के मन्त्रों को देखकर पता चलता है कि यहा प्रकरण ही और है। इसलिये सूत्र ग्रन्थ का वह विनियोग जो कि प्रश्न कर्ता ने उद्धृत किया है, सर्वथा प्रक्षिप्त और वेद विरुद्ध है।

४६—प्रथमवार के सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३०३ में स्वामी दयानन्द जी लिखते हैं कि 'जहा २ गोमेधादिक लिखे हैं वहा २ पशुओं मे नरों को मारना लिखा है। और एक बैल से हजारों गाये गर्भवती होती हैं इसमे हानि भी नहीं होती और जो वन्ध्या गाय होती है उसको भी गोमेधादि मे मारना लिखा है क्योकि वन्ध्या से दुग्ध और वत्स्यादिकों की उत्पत्ति नहीं होती।' यह कथन स्वामी जी ने

ब्राह्मण ग्रन्थ के आधार से ही किया है। अब आप स्वामी जी के कथनानुसार गोमेध यज्ञ को सत्य स्वीकार करते है या नहीं लिखिये ?

५६—यज्ञ में अथवा अन्यत्र भी पशु हिंसा के ऋषि दयानन्द सर्वथा विरुद्ध है। इस विषय को हम प्रमाण सहित ३६ वे प्रश्न के उत्तर मे लिख आये हैं। (हम यह भी लिख आये है कि प्रथमावृत्ति के सत्यार्थ प्रकाश मे बहुत-सी सिद्धान्त विरुद्ध बाते उस समय के लेखक पण्डितों ने लिख दी थी) और उनके सशोधन के लिये ऋषि ने उसी समय आदेश दे दिया था। अत इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

५७—आर्य समाजी विद्वानों की मान्यता है कि ईश्वर दयालु है और दयालुता का परिचय उसने वेदो द्वारा दिया है परन्तु यह बात मिथ्या है क्योंकि वेदों में हिंसा का विधान अवश्य सिद्ध होता है इसलिये वेद ईश्वर कृत नहीं और न वेदोक्त ईश्वर दयालु ही सिद्ध हो सकता है लिखिये ?

५७—वेदों में हिंसा का विधान कहीं भी नहीं। अत वेद ईश्वरकृत है और ईश्वर दयालु है। क्योंकि उसने प्राणिमात्र के कल्याण के लिये ही सृष्टि को बनाया है और वेदों का पवित्र ज्ञान दिया है।

५८—सत्यार्थ प्रकाश मन्तव्य २ में लिखा है कि चारों वेद ईश्वर प्रणीत होने से निर्भ्रान्त व स्वत प्रमाण मानता हूँ। सो ऐसा कहना मिथ्या है क्योंकि वाजसनेयी माध्यन्दिनी आदि शाखाओं के होने से वेद सब ऋषि प्रणीत ही सिद्ध होते है। यदि आप वेदों को ईश्वर कृत मानते हैं तो लिखिये ?

५६—वेदों की जितनी भी शाखाये है सब ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। यदि आप ऐसा कहें तो शुक्ल यजुर्वेद सहिता भी वाजसनेयी माध्यन्दिनी शाखा होने से ऋषि प्रणीत ही सिद्ध होती हैं क्योंकि याज्ञवल्क्य ऋषि के पिता का नाम वाजसनेयी था इससे याज्ञवल्क्य का नाम वाजसनेयी हुआ। अब आप वेदों को

ईश्वर कृत किस प्रकार सिद्ध करते है लिखिये ?

६०—वाजसनेयी ऋषि का नाम किस संहिता में लिखा है यदि आप ऐसा कहे तो शुक्ल यजुर्वेद संहिता अध्याय २५ के अन्त में इस प्रकार लिखा है ?

इति माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयि-संहितायां पंचविंशोऽध्यायः ।

लिखिये वेद के ईश्वर कृत होने मे क्या प्रमाण है ?

६१—वेद ऋषि कृत होने में किसी श्रुति का प्रमाण हो तो लिखिये । यदि आप ऐसा कहें तो जरा देखिये (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते । १४–६–४–३३ इति श्रुतेः) आदित्य अर्थात् सूर्य से प्राप्त किये हुये निर्दोष शुक्लयजु वाजसनि के पुत्र याज्ञवल्क्य के नाम से कहे जाते हैं । लिखिये अब वेद ईश्वर कृत है या ऋषिकृत ?

५८–५९–६०–६१—इन चारों प्रश्नों में एक ही बात को दुहराया गया है । यह प्रश्न उठाया गया है कि शुक्ल यजु संहिता वाजसनेय के नाम से प्रसिद्ध है इसलिये वाजसनेय अर्थात् याज्ञवल्क्य ऋषि की बनाई हुई है । ईश्वर से आई हुई नहीं । इसकी पुष्टि मे आपने ६१ वे प्रश्न में ब्राह्मण का प्रमाण दिया है । वह प्रमाण भी और उसका अर्थ भी हम नीचे लिखे देते है ताकि पाठकों को पता लग सके कि यह प्रमाण प्रश्न कर्ता के पक्ष की पुष्टि करता है या नहीं ।

"आदित्यानीमानिशुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्ये नाख्यायन्ते" ये शुक्ल यजु आदित्य अर्थात ईश्वर की तरफ से है । और वाजसनेय याज्ञवल्क्य इनका व्याख्यान करते हैं ।

आदित्य नाम वेद में ईश्वर और सूर्य दोनों का आया है । यहा यजुर्वेद का ज्ञान सूर्य की तरफ से तो आ नहीं सकता—क्यों कि सूर्य जड है । इसलिये आदित्य नाम यहा ईश्वर का ही है और अतएव वेद का ज्ञान ईश्वर की तरफ से ही आया है यह ब्राह्मण का तात्पर्य है । अब इस वाक्य से इतना तो स्पष्ट हो गया कि वेद ईश्वर की तरफ से मिले है । अब रह गया यह वाक्य कि

वाजसनेय याज्ञवल्क्य इनका आख्यान करना है" इसका भी भाव स्पष्ट ही है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य इनका व्याख्यान करता है। और वाजसनेय याज्ञवल्क्य का वह व्याख्यान ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण के नाम से वैदिक साहित्य मे प्रसिद्ध भी है। अत. यह स्पष्ट सिद्ध है कि वेद ईश्वर से आये हैं मनुष्यकृत नहीं।

६०—'वेद के आदि व अन्त में किसी का मगलाचरण नहीं है इससे वेद ईश्वर कृत हैं। आपका यह भी कहना प्रलापमात्र है। क्योंकि स्वामी दयानन्द जी का यजुर्वेद भाष्य खोल कर देखिये तमक प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में पाप की निवृत्ति के लिये मगलाचरण किया है और वह इस प्रकार है—'विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव।' अर्थात ऋषि याज्ञवल्क्य ने सूर्य-देव से प्रार्थना की है कि (दुरितानि पापानि परासुव) हमारे पापों को दूर कीजिये और भाष्य के अन्त में (ओ३म् ख ब्रह्म। यजुर्वेद ४०-१७) इस प्रकार अन्तिम मगलाचरण भी किया है। अब कहिये वेद ईश्वर कृत है या ऋषिकृत ?

६०—धन्य हो महाराज। आपके अनोखे तर्क पर तो कुछ न्यौछावर करना चाहिये। आप सिद्ध तो यह करने चले हैं कि वेदों में मङ्गलाचरण है। और हेतु यह दे रहे है" कि ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य मे प्रत्येक अध्याय मे मङ्गलाचरण किया है। पाठक महोदय भी हमारे प्रश्न कर्ता की बुद्धि को दाद दें और सोचे कि अपने वेद भाष्य के लिये ऋषि दयानन्द का किया हुआ मङ्गलाचरण, वेद के लिये वेद कर्ता का किस प्रकार हो गया। श्रीमान जी ? कुछ सोच कर लिखा करें। प्रश्नों की १११ सख्या पूरी करने के लिये कुछ यों ही अनर्गल न लिख मारा करें। आप लिखते हैं कि वेद के अन्त में "ओ ख ब्रह्म" आया है यह मङ्गल हो गया। श्रीमान जी यह चालीसवा अध्याय तो सारा ही ब्रह्माध्याय है। इसलिये इसमें तो एक ख ब्रह्म ही नहीं, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयम्भू आदि परमात्मा के कितने ही नामों का उल्लेख है। इसलिये 'ओं ख ब्रह्म' भी इस अध्याय का ही अङ्ग

है, मङ्गलाचरण नहीं। और मङ्गलाचरण ग्रन्थ कर्ता ग्रन्थ के आदि मे किया करता है न कि अन्त मे, इस कारण से भी यह वाक्य मङ्गलाचरण नहीं है।

६२—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ १० मे लिखा है कि (एवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वांगिरस) इस प्रमाण से चारों वेद श्वास की भांति ईश्वर से ही उत्पन्न हुये है। सो यह कहना भी आप का ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि—अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसित-मेतदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या-उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवेतानि सर्वाणि निश्वसितानि। वृ० ४ ब्रा० ४–१०। इस प्रमाण द्वारा आपको पुराण पर्यन्त प्रमाण मानने होंगे, क्योंकि बीच मे 'इति' शब्द नहीं है जिस से आप चारों वेदों को ही ईश्वर कृत सिद्ध कर सके और अन्त मे सर्वाणि शब्द का प्रयोग होने से विधेय व विधायक आदि सब ही ईश्वर से श्वास की भांति उत्पन्न हुए मानने पड़ेगे और 'वेदों को ही हम ईश्वर कृत मानते है' ऐसा कहना भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है। लिखिये, वेदो के ईश्वर कृत होने में क्या प्रमाण है?

६३—'ऋषि दयानन्द का मन्तव्य है कि जो वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के ग्रन्थ है उनको परत प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमे वेद विरुद्ध वचन हैं उनको अप्रमाण मानता हूं'। इस मन्तव्य के अनुसार इस ब्राह्मण का जितना भाग वेदानुकूल था उसी को भूमिका मे उद्धृत किया है शेष को नहीं। इतना ही अंश वेद के अनुकूल है और शेष नहीं यह क्यों? इसके लिये प्रमाण आगे पढ़िये—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।

भावार्थ—उस सर्वपूज्य यज्ञरूप भगवान् से ऋक्, साम, अथर्व और यजुर्वेद का ज्ञान मिला।

इस प्रकार वेद ने केवल चारों वेदों का आगमन भगवान से बतलाया है, इतिहास पुराण सूत्र आदि का नहीं। इसलिये चारों वेदों का आना ही वेदानुकूल है इतिहास पुराण आदि का नहीं।

६४—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ १२४ में लिखा है कि (तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे। यजुर्वेद ३१-७) इस प्रमाण से चारों वेद ईश्वर कृत सिद्ध होते है परन्तु यह भी कहना असत्य है क्योंकि (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन। यजुर्वेद ३१-४) ईश्वर के तीन हिस्से तो उड कर ऊपर अधर जा लटके और एक हिस्सा यहां रह गया। अब बतलाइये कि वेद श्वास की भांति तीन हिस्सों से उत्पन्न हुये या एक पाद से लिखिये ?

६४—इस प्रश्न का उत्तर आठवें और नवें प्रश्न के उत्तर मे पढिये। उन प्रश्नों में भी ब्रह्म के तीन पादों के विषय में ही पूछा गया था। यह पुनरावृत्ति १११ संख्या को पूर्ण करने के लिये ही की गई प्रतीत होती है।

६५—स्वामी दयानन्द जी ने यजुर्वेद अध्याय २३ मत्र १६ से ३१ तक कण्डिकाओं का वेदार्थ, राज्य प्रकरण की शतपथ श्रुति के अनुसार लिखा है और शतपथानुसार होने से अपना अर्थ सत्य और प्राचीन भाष्यों को मिथ्या बतलाया है परन्तु आर्य समाजी विद्वान हाथ मे वेद पुस्तक को लेकर विचार करें तो क्या प्राचीन भाष्य वेद व शतपथ के विरुद्ध सिद्ध होते है। यदि सिद्ध होते है तो प्रमाण सहित लिखिये ?

६५—तरेसठवे प्रश्न के उत्तर में हम बतला आये है कि ऋषि किसी भी आर्ष ग्रन्थ के वेद विरुद्ध अंश को प्रमाण नहीं मानते। अत उन्होंने सूत्र अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों के उतने ही अंश का अपने भाष्य में अनुसरण किया है जो वेदानुकूल था। वेद विरुद्ध अंश का उन्होंने सर्वत्र परित्याग किया है। इसका एक उदाहरण तो हम अभी ६३ वे प्रश्न के उत्तर मे दे आये हैं। ऋषि का यह भी सिद्धान्त है कि वेदों में सृष्टि नियम के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।

क्योंकि सृष्टि नियम ईश्वर की व्यवस्था है अत अपनी व्यवस्थाओं के विपरीत व्यवहार का उल्लेख अपने ही ज्ञान वेद में होना असम्भव है। इस अध्याय के अन्य भाष्य कर्ता महीधर आदि ने ईश्वरीय नियम के विरुद्ध घोड़े का सम्बन्ध स्त्री के साथ कराने के भाव इन मन्त्रों में से निकालने की चेष्टा की है अत वे भाष्य वेद विरुद्ध हैं। यद्यपि ये भाव महीधर आदि के अपने मस्तिष्क की उपज नहीं हैं उन्होंने भी इन्हें सूत्र ग्रन्थों से लिया है। परन्तु प्रामाण्य की दृष्टि से सूत्र तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का भी आसन वह ही है जो इन भाष्यों का। वे सब ग्रन्थ भी वेद के विरुद्ध होने पर अप्रमाण हैं। (महीधर आदि पर ऋषि का आक्षेप इसीलिये है कि उन्होंने सर्वथा दूसरों पर निर्भर किया, अपनी समालोचनात्मक दृष्टि से कुछ भी काम नहीं लिया।) यह प्रश्न हो सकता है कि ऋषि दयानन्द ने इस अध्याय के इस भाग को राजार्थ में ही क्यों लगाया। इसमें क्या प्रमाण ? इस प्रश्न का उत्तर हम इसी अध्याय के उपक्रम और उपसंहार से देते हैं। इसके लिये हम दो मन्त्र आरम्भ के और तीन अन्त के अर्थ सहित उद्धृत करके बाद में कुछ पंक्तियों में अपने विचार प्रकट करेंगे।

"हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्र भूतस्य जात पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।" यजु० अ० २३ मं० १।

(सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले सारे प्रकाशमय अणुओं का आधार और सृष्टि की उत्पत्ति के बाद सारे भूतों का अधिष्ठाता एक ईश्वर ही था) उस ही ने इस पृथिवीलोक और द्युलोक आदि का धारण किया है। ऐसे सुख स्वरूप भगवान् की हम स्तुति करते हैं। १।

"उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनि सूर्यस्ते महिमा यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्य। २।

भावार्थ—ध्यान के द्वारा गृहीत होने योग्य सर्व सेव्य भगवन् ?

मै तेरा, प्रजा के पालक राजा की रक्षा के लिये ध्यान करता हूँ। यह सारा विश्व तेरे ज्ञान का साधन है। सवत्सर में, वायु में, अन्तरिक्ष मे और द्युलोक मे होने वाले सूर्य मे तेरी ही महिमा प्रकट हो रही है। आपकी इस महिमा को नमस्कार है। तथा तेरे प्रजा-पालन-रूपी महत्व और दिव्य शक्तियों को नमस्कार है।

अन्त के तीन मन्त्र

"सुभू स्वयम्भू प्रथमो अन्तर्महत्यर्णवे।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जात प्रजापति" ६३

शुद्ध सत्, स्वयं सत्—अर्थात् उत्पत्ति विनाश से रहित ईश्वर ने इस ससार महासागर मे समयानुकूल एक गम्भीर शक्ति का सञ्चार किया जिससे राजा की उत्पत्ति हुई। ६३।

"होता यक्षत्प्रजापति सोमस्य महिम्न जुषता पिबतु सोम होतर्यज"। ६४।

राष्ट्र रूपी यज्ञ मे आहुति डालने वाला राजा प्रजा के पालक भगवान की पूजा करे। और उसके सोम=सब प्राणियों को शान्ति देने वाले गुण से प्रीति करे। तथा स्वय भी उसी सोम को पीकर शान्त हो। और फिर होता बन कर राष्ट्र रूपी यज्ञ का अनुष्ठान करे।

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम्।६५।

हे प्रजा के पालक भगवान? इन सब ससार मे उत्पन्न हुए पृथिवी आदि पदार्थों को आप से अन्य और कोई अधिकार में नही रख सकता, जिस कामना से हम आपकी स्तुति करते हैं वह हमारी पूर्ण हो और हम सम्पत्ति के स्वामी हों।

इस अध्याय के आरम्भ में पहिले मन्त्र मे ईश्वर की स्तुति की गई है। और दूसरे मन्त्र में राष्ट्रपति राजा की रक्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना की गई है। अध्याय के अन्तिम मन्त्र में फिर भगवान की स्तुति करते हुए सबके लिये सम्पत्ति की याचना की

गई है। इससे पहिले मन्त्र में राष्ट्रपति को भगवान से सोम गुण की प्राप्ति का यत्न करते हुए राष्ट्र रक्षा का उपदेश दिया गया है। और इससे पहिले मन्त्र में इस प्रकार के शुभगुणों से सम्पन्न राष्ट्र-पति की उत्पत्ति भगवान से दी हुई शक्ति से बतला कर उसे प्रजा का मान्य घोषित किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के उप-क्रम और उपसंहार में ईश्वर और राजा दो ही विषय हैं। अतः मध्य में भी इन्हीं दो विषयों में से किसी का वर्णन होना चाहिये। यदि ईश्वर और राज सम्बन्धी विषय पहिले ही समाप्त हो गया होता तो अन्त में उपसंहार में यह ही विषय न रहना चाहिये था। परन्तु यह विषय उपसंहार में भी है अतः मध्य में भी इसी विषय का रहना आवश्यक है। यही कारण है कि महर्षि दयानन्द ने अध्याय के मध्य के 'गणानान्त्वा' आदि मन्त्रों का व्याख्यान राज-परक किया है। अतः यह ही व्याख्यान वेदानुकूल है और शेष वेद विरुद्ध है।

६६—स्वामी दयानन्द जी ने यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ६१ में लिखा है कि (त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पै वृषभो रोरवीति। निरुक्त १३–७) इस निरुक्त के प्रमाणानुसार यज्ञ को मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प अर्थात् सूत्र द्वारा बंधा हुआ लिखा है। परन्तु स्वामी दयानन्द जी का वेद भाष्य देखा जाय तो इन तेरह कण्डिकाओं में कहीं पर भी इन तीनों का योग नहीं पाया जाता और सूत्र को तो भाष्यभर में कहीं नहीं लिखा फिर स्वामी जी का वेदभाष्य वेदानुकूल है यह किस प्रकार हो सकता है? लिखिये।

कर्मकाण्ड की शतपथ श्रुतियों के विषय में जब कि आर्य-समाजी विद्वानों से उत्तर नहीं बनता तब हेत्वाभास प्रक्षिप्त कह कर ही नास्तिकता का परिचय देने लगते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द जी ने अपनी कलम से ब्राह्मण भाग में कहीं पर भी प्रक्षिप्त अंश नहीं लिखा है। यदि कहीं लिखा है तो लिखिये?

६६ (क)—मन्त्र ब्राह्मण और कल्प से यज्ञ को बधा हुआ बतलाया है न कि वेद को। याज्ञिक लोग यज्ञ मे मन्त्रों का विनियोग और सूत्रों की विधि का अनुसरण भी करते ही हैं। परन्तु वेद को इनके बन्धन मे बधा हुआ कहीं भी नहीं कहा गया। अत याज्ञिक व्याख्या मे वेदानुकूल कल्प तथा ब्राह्मण का अनुसरण व्याख्यता यथा रुचि कर सकता है वज्ञानिक व्याख्या मे भी ब्राह्मण के वेदानुकूल शब्दार्थ का अनुसरण कर सकता है। कोई व्याख्यान वेद विरुद्ध तब ही हो सकता है जब कि वेद के सिद्धान्तों के विरुद्ध जा रहा हो इसलिये नहीं कि उसमें सूत्र का प्रमाण नहीं दिया गया है।

(ख) मैं एक स्थान पर पहिले भी दिखला आया हूँ कि ऋषि दयानन्द ब्रह्मादि महर्षियों के वेदों के व्याख्यान-रूप ग्रन्थो को वेद के अनुकूल होने पर प्रमाण और वद के विरुद्ध होने पर अप्रमाण मानते हैं। देखिये प्रश्न ६३ का उत्तर। यदि इन ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अथवा वेद विरुद्ध विषय न होते तो ऋषि दयानन्द अपना यह मन्तव्य क्यों प्रकट करते। इसलिये आर्य विद्वान् ऋषि की इस आज्ञा का अनुसरण करते हुए ऐसा कहा करते है।

६७—यास्काचार्य प्रकरण विषय में इस प्रकार लिखते है कि (न तु पृथकत्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या) *इस प्रमाणानुसार मन्त्रों का अर्थ अलग २ करके नहीं, किन्तु* प्रकरणानुसार ही करना चाहिये। अब आप बतलावे कि (गणाना त्वादि) ये १३ कण्डिका किस प्रकरण की है? जरा प्रमाण सहित लिखे।

६७—(गणानत्वा आदि १३ कण्डिकाओं का अर्थ जिस प्रकार प्रकरणानुसार है वह प्रकार हम ६५ वे प्रश्न के उत्तर में दिखला आये हैं)।

६८—आर्योपदेशक महाशय रामचन्द्र जी देहली ने अपने पत्र में प्रकरण लिख कर बतलाया था कि सामान्य विषय तो सारे

अध्याय में और कभी २ अनेकों मे भी व्यस्त रहते है और उनके विशेष अगों का वर्णन मन्त्रो मे होता है जो देवताओं के द्वारा जाना जाता है। अब महाशय चन्द्र जी का कथन यदि आप सत्य समझते है अथवा इस कथन का कोई आधार है तो लिखे ?

६८—हमारे मानने महाशय रामचन्द्र जी का वह पत्र नहीं है। जब तक हम उनके निबन्ध को आद्योपान्त न देख लें कोई सम्मति स्थिर नही कर सकते। आप इस विषय को पत्र लिखकर उनसे पूछ सकते हैं। वे आपका यथोचित समाधान कर देंगे।

६९—यजुर्वेद में ४० अध्याय पाये जाते हैं जिनमें ३९ अध्याय तक तो यज्ञों का वर्णन और ४० अध्याय मे उपनिषद् है। परन्तु स्वामी दयानन्द जी का वेदभाष्य खोल कर देखिये तो वेद या यज्ञ पद्धति के अनुसार कही पर भी यज्ञो का वर्णन नही मिलेगा। यदि मिलता है तो प्रमाण द्वारा लिखिये ?

६९—(मै आपको पहिले बतला चुका हूँ कि ऋषि दयानन्द ने वेदों का नैरुक्त अथवा वैज्ञानिक व्याख्यान किया है याज्ञिक नहीं) अतः उन्हें अपने व्याख्यान मे याज्ञिक प्रक्रिया का दिखलाना आवश्यक न था। वेद के ३९ अध्यायो मे यज्ञो का ही विषय है यह भी बात नही। यों तो यज्ञ अनेक प्रकार के हैं और ससार के सब ही विषय यज्ञ के गर्भ मे समा जाते है। परन्तु जिस कर्म-काण्ड को आप यज्ञ का नाम दे रहे है वह ही विषय इन सब अध्यायों मे है यह बात नहीं है। इन अध्यायों मे आधिभौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक सब प्रकार के विषयों का प्रतिपादन है। हा किसी भी मन्त्र को किसी यज्ञ के भाव का प्रकाशक देख कर उसका उस यज्ञ मे विनियोग किया जा सकता है।

७०—स्वामी दयानन्द जी के यजुर्वेद भाष्य मे यदि कोई अश्वमेध यज्ञ प्रकरण को जानना चाहे तो जान नही सकता, क्योंकि उसमे कर्मकाण्ड का विधान ही नहीं है। परन्तु प्रकरण जानने के लिये कात्यायन सर्वानुक्रमणिका मे इस प्रकार लिखा है—अथाश्व-

मेधश्चतुरो ऽध्यायात्प्रजापतिरपश्यत्तेजोऽसि । ४-१ इति सूत्रम् । इस तेजोऽसि मन्त्र अर्थात् बाईसवें अध्याय से लेकर पच्चीसवें अध्याय तक के मन्त्रों को प्रजापति देखते हुये अर्थात् इन चार अध्यायों के मन्त्रों को प्रजापति ने देखा । तब उस प्रमाण से भले प्रकार सिद्ध होता है कि चार अध्यायों में अश्वमेध यज्ञ का प्रकरण और मन्त्रों का प्रजापति ऋषि सिद्ध होता है । अब आप बतलावें कि स्वामी जी के यजुर्वेद भाष्य में प्रकरण के लिये क्या कोई विधायक ग्रन्थ का प्रमाण लिखा है तो प्रमाण युक्त लिखें ?

७०—(हम पहिले भी कई बार लिख चुके हैं कि ऋषि दयानन्द ने अपना वेद भाष्य यज्ञ परक नहीं किया) यदि उनका व्याख्यान ऐसा होता तो उसमें यज्ञ विधायक ग्रन्थों के प्रमाण मिल जाते (परन्तु उनका व्याख्यान नैरुक्त अथवा वैज्ञानिक है) और अपने इस व्याख्यान में प्रमाण रूप से उन्होंने निघण्टु निरुक्त तथा शतपथ का प्रमाण स्थान-स्थान पर दिया है । यह बात दूसरी है कि इन ग्रन्थों में आये हुए किसी वेद विरुद्ध भाग को उन्होंने छोड़ भी दिया है । सम्भवतः आप कहने लगें कि ऋषि ने पहिले २ ही इन ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं आगे चल कर नहीं इसलिये हम सातवें अध्याय के यजुर्वेद भाष्य में आये हुए कुछ उद्धरण यहां उद्धृत करते हैं ।

"ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् . (निघण्टु ३ । १०)" "वैश्वानर कस्माद्विश्वान्नरान्नयति, विश्व एनन्नरा नयन्तीति वा (निरुक्त ७ । २१)" "अयं मन्त्र ७ । २ । ३ । २४ शतपथे व्याख्यातः" (यजुर्वेद अ० ७ म० २४) इस एक ही मन्त्र में निघण्टु, निरुक्त और शतपथ के प्रमाण दिये गये हैं ।

"ग्रावेति मेघनामसु पठितम् (निरुक्त १ । १०)" "अयं मन्त्र शतपथ ४ । २ ४ । २ व्याख्यातः" (यजुर्वेद अ० ७ म० २६) इस मन्त्र में निघण्टु और शतपथ के प्रमाण दिये हैं "वर्च इत्यन्न नामसु पठितम् (निघण्टु २ । ७)" "अयं मन्त्र शतपथ ४।२।४।३

व्याख्यात" (यजु० अ० ७ म० २७) इस मन्त्र में निघण्टु और शतपथ दोनों के प्रमाण दिये गये है।

ये उद्धरण हमने एक ही स्थान के तीन मन्त्रों से दे दिये है। यदि आप आँख खोल कर देखेंगे तो ऐसे प्रमाण ऋषि के भाष्य में सहस्रों स्थानों पर मिलेंगे।

७१—स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य मे अनुवाकों के अतिरिक्त मन्त्रों की सख्या भी ठीक नही है, क्योंकि पचीसव अध्याय में ४८ मन्त्र भाष्य महित प्रकाशित किये है परन्तु यह सख्या अनुवाक सूत्र के विरुद्ध होने से मिथ्या है। जरा इधर देखिये (शादद्भिर्नवैकेकाहिरण्यगर्भश्चतस्त्र आनोदशमानोमित्रोय-दश्वस्याष्टकौ यत्तेषडिमानुक द्वेपचदशसप्त चत्वारिंशत) १५-४७-२५ इति सूत्रम्। इस सूत्र के प्रमाण से पन्द्रह अनुवाक और ४७ मन्त्रों की सख्या सिद्ध होती है। यदि आप मन्त्रो की ४८ सख्या को सत्य समझते है तो प्रमाण द्वारा लिखिये ?

७१—इस मन्त्र के एक रहने पर अथवा दो हो जाने पर भी अर्थ मे कोई अन्तर नहीं पडता। क्योंकि जिन पाठों में ये मन्त्र दो है उनमें भी पहिले मन्त्र के ही दो भाग अवशिष्ट रख कर और एक भाग को लेकर दूसरा मन्त्र बना दिया गया है। और भाव वह ही है जो कि इस मन्त्र भाग के प्रथम मन्त्र में रहते हुए हो सकता था यहा विरोध कोई नहीं है पाठ भेद रहने से ऐसा होना सम्भव हो जाता है।

७२—स्वामी दयानन्द जी ने अपने यजुर्वेद भाष्य मे (गणाना त्वा) इस कण्डिका का गणपतिर्देवता लिख कर ईश्वर का ग्रहण किया है सो ठीक नहीं। क्योकि (ब्रह्म वै गणपति) ऐसा श्रुति का कोई प्रमाण नहीं लिखा है यदि आप देवता विषय मे स्वामी जी का कथन सत्य समझते हैं तो लिखिये ?

७२—निरुक्त और शतपथ में अप्रसिद्ध और सन्दिग्ध शब्दों का ही निर्वचन किया है सबका नहीं। गणपति शब्द अपने स्पष्ट

यौगिक अर्थ से सब देवगणों के स्वामी भगवान् की ओर स्वय सकेत कर रहा है इसके निर्वचन की आवश्यता ही क्या थी। देवता विषय में ऋषि का कथन किस प्रकार सत्य है इसके लिये पढ़िये ६४ वे प्रश्न का उत्तर।

७३—स्वामी दयानन्द जी ने कर्मकाण्ड को सर्वथा नष्ट भ्रष्ट कर दिया, इसी से कण्डिका में चार मन्त्र होने पर भी उन्होंने एक गणपतिर्देवता लिख कर सीधा २ अर्थ कर दिया है। और कर्मकाण्ड के विधायक सूत्र वा श्रुति को छुआ तक नहीं। क्या इस कण्डिका में एक ही मन्त्र है। यदि एक ही मन्त्र है तो लिखिये ?

७३—जिसमें जीव हिंसा का विधान है और जो वेद के सर्वथा विरुद्ध है ऐसे कर्म-काण्ड को नष्ट ही कर देना चाहिये था। यदि मन्त्रदाता भगवान् को यहा चार मन्त्र अभीष्ट होते तो चार ही देते, एक में चार मन्त्रों के प्रवेश करने की क्या आवश्यकता थी। अब आप जरा मस्तिष्क से साम्प्रदायिकता का कीड़ा निकाल कर और वहा न्याय को स्थान देकर धार्मिक दृष्टि से देखे कि एक मन्त्र को एक मानने वाले सत्य पर हैं या एक के चार टुकडे कर एक के चार बनाने वाले। यह सब लीला शाक्तों ने या आप जैसे महानुभावों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिये की है।

७४—गणाना त्वा गणपतिं हवामहे। प्रियाणा त्वा प्रियपतिं हवामहे। निधीना त्वा निधिपति हवामहे। वसो मम। आहम-जानिगर्भधमात्वजासिगर्भधम। २३-१६। (१-२-३) ॐ गणाना त्वेति त्रयाणा प्रजापतिर्ऋषि। आर्यावृहती छन्द। लिङ्गोक्तादेवता। महिष्या अश्वप्रक्रमणे ? विनियोग (४) ॐ वसोममेत्यस्य साम्नी पंक्ति छन्द। (अश्वोदेवता) महिष्या अश्वसमीपे सवेशने विनि-योग। अश्व त्रिषि परियन्ति पितृवन्मध्ये गणाना विधीनामिति। कात्यायन २०-६-१३ इति सूत्र प्रत्तालिनेषु महिष्यश्वमुपसंविशत्याहम-जानीति कात्यायन २०-६-१४ इति सूत्र।

इन प्रमाणों से इस कण्डिका मे चार मन्त्र सिद्ध होते हैं जिनमें

तीन से तो अश्व की नव परिक्रमा और एक मन्त्र में पटरानी का अश्व के पास सोना लिखा है। यदि आप इस कण्डिका में एक ही मन्त्र और गणपतिदेवता तथा उपासना विषय को सत्य समझते हैं तो लिखिये ?

७४—इस प्रकरण विधायक कात्यायन सूत्र वेद विरुद्ध हैं, अतएव त्याज्य हैं इसके लिये देखिये ६५ वे प्रश्न का उत्तर।

७५—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३४७ में लिखा है कि (अश्वो यत ईश्वरो वा अश्व) १३-३-८-८ इतिश्रुते । ईश्वरस्यैवात्राश्वसञ्ज्ञास्तीति। यहां ईश्वर की ही अश्व सञ्ज्ञा है। इस प्रकार शतपथ श्रुति के प्रमाण में वा विकल्प के स्थान में—एवकार का प्रयोग किया है सो मिथ्या है। क्योंकि श्रुति मे 'ईश्वरो वै अश्व' ऐसा प्रयोग न करके 'ईश्वरो वा अश्व' ऐसा प्रयोग किया है। यदि आप इस व्याकरण की गलती को स्वीकार नहीं करते तो प्रमाण क्या ?

७५—कृपया पढते समय ध्यान से पढा करें। यहा ऋषि ने "ईश्वर का अश्व नाम भी है" इसके लिये शतपथ का प्रमाण दिया है। और आगे चल कर निर्धारण करते हुए "अन्य" शब्द देकर प्रकरण का निर्देश किया है। भाव स्पष्ट है कि शतपथकार ने अश्व शब्द का ईश्वर तथा अन्य अर्थ भी माना है। परन्तु इस प्रकरण में अन्य अर्थ सगत नहीं होता अत यहा अश्व शब्द का ईश्वर ही अर्थ है। अब आप बतलाइये यहा व्याकरण के कौन से अग का भग हुआ है। या आप के मत मे शब्दार्थ ही व्याकरण है और वह शब्दार्थ विरोध भी यहा है नही, यह हम ऊपर दिखला आये हैं।

७६—स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३४६ में लिखा है कि (ता उभौ चतुर पद सम्प्रसारयाव वर्गे लोके प्रोर्णवाथा वृषावाजी रेतोधा रेतो दधातु २३-२० । महीधरस्यार्थ । अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषावाजीति। महिषीस्वयमेवाश्व-

शिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति ।

भाषार्थ—यजमान की स्त्री घोडे के   को पकड कर आप ही अपनी   डाल देवे । इस प्रमाण मे स्वामी जी ने कात्यायन सूत्र और सूत्रार्थ को महीधर का अर्थ बतला कर जनता को सरासर धोखा दिया है । जरा इधर देखिये—(अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषावाजीति कात्यायन) २०–६–१६ इति सूत्र । यह तो कात्यायन सूत्र है और (महिषीस्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति) यह सूत्र का अर्थ है । और (अश्वस्य शिश्न महिष्युपस्थे निधत्ते वृषावाजी रेतोधा रेतोदधात्विति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय) १३–५–२–२ इति श्रुति । यह शतपथ श्रुति है । इस प्रकार महीधरार्थ की सिद्धि न हो कर मन्त्र ब्राह्मण और सूत्र इन तीनों की अर्थ सगति एक सिद्ध हो जाती है । अब आप स्वामी जी के कथनानुसार महीधर का अर्थ किस प्रकार सिद्ध करते हैं जरा प्रमाण सहित लिखिये तो सही ।

७६—इस प्रश्न के उत्तर के लिये ६५ वे प्रश्न का उत्तर पढिये ।

७७—स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३५६ मे लिखा है कि (अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थो ऽतीव विरुद्धोऽस्ति) अर्थात्—हमारे शतपथ ब्राह्मणोक्त अर्थ से महीधर कृत अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है परन्तु स्वामी जी का यजुर्वेद भाष्य स्वय ही मन्त्र ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के विरुद्ध है । यदि आप स्वामी जी को सत्य वक्ता और इस लेख को वेदानुकूल सत्य समझते हैं तो प्रमाण द्वारा जरा लिख कर दिखलाइये ।

७७—ऋषि का अर्थ मन्त्रों के विरुद्ध कहीं भी नहीं । उन ब्राह्मण वाक्यों और उन सूत्रों के अवश्य विरुद्ध है और होना भी चाहिए जो वेद विरुद्ध हैं । फिर वे ब्राह्मण वाक्य और सूत्र चाहे प्रक्षिप्त हों और चाहे उन ग्रन्थकारों के । वस्तुत वे सब वेद विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त ही हैं । ऐसे वाक्यों और सूत्रों का वेद विरोध पहिले कई स्थानों पर दिखला ही दिया गया है ।

भूमिका में जिस स्थान पर ऋषि ने महीधर के अर्थ को शतपथ से विरुद्ध कहा है वहा "यद्धरिणो यवमत्ति" इस मन्त्र के महीधर और शतपथ के दोनों अर्थ दिखला दिये है। और वहा विरोध स्पष्ट है। आंखें खोल कर पढ़िये।

७८—उत्सकथ्या अवगुद धेहि समञ्जिनञ्चारयावृपन्। य स्त्रीणा जीवे—भोजन २३—२१। उ० उत्सकथ्या इत्यस्य प्रजापति ऋर्षि। गायत्री छन्द। अश्वो देवता। अश्वाभिमत्रण विनियोग। उत्सकथ्या इत्यश्व यजमानो अभिमन्त्रयते—कात्यायन २०—६—१७ इति सूत्र। उत्सकथ्या इति अश्व को यजमान अभिमंत्रित करे। अश्व यजमानोऽभिमेथति १३—५—२—३ इति श्रुते। इस प्रकार सूत्र वा ब्राह्मण श्रुति के अनुसार यजमान द्वारा घोड़े को अभिमंत्रित करना लिखा है। स्वामी दयानन्द भी अपने वेदार्थ को शतपथानुकूल होने से सत्य बतलाते हैं। परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३६० में (उत्सकथ्या) इस कण्डिका के साथ मे शतपथ श्रुति को लिखना क्यों भूल गये। यदि आपके पास सत्यार्थ प्रकट करने के लिये कोई श्रुति है तो लिखिये।

७८—इस मन्त्र के साथ शतपथ का प्रमाण लिखना नहीं भूल गये। वेद विरुद्ध होने से उसे जान-बूझ कर छोड दिया। "यह वेद विरुद्ध है" इसके लिये पढ़िये ६५ वें प्रश्न का उत्तर। वेद से ही नहीं शतपथ का यह विनियोग अपने विरुद्ध भी है। इन मन्त्रों का अर्थ करते हुए शतपथ कहता है "राष्ट्रं मश्वमेध" (अश्वमेध राष्ट्र है) और फिर इस प्रकरण के मन्त्रों की राष्ट्र परक ही व्याख्या भी की है। पढ़िये शतपथ (१३।२।३)।

७६—यकाम कौशकुन्तिका हलगिति वचति। आहन्ति गभे पसो निगल्गलीतिधारका २३—२२। (१) उ० यकेत्यस्य प्रजापति ऋषि आर्चीपंक्ति छन्द। अध्वर्य्वादयो देवता। अध्वर्यूणा कुमारी प्रतिकथने विनियोग। अध्वर्य्वादीना कुमार्यादिभिरश्लीलभाषणता एव देवता ३—४ इति सूत्र। अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षत्तार कुमारी-

पत्तिभि मवदन्त यकासकाविति दशर्चस्य द्वाभ्या द्वाभ्या हये हयेऽसावित्यामत्यामत्य-कात्यायन २०-६-१८ इति सूत्र। अथा-ध्वर्यु कुमारीमभिमेथति कुमारी हये हये कुमारियकासको शकुन्तके १३-५-२-४। इति श्रुत। इस प्रकार श्रुति वा सूत्र के अनुसार इन दश मन्त्रों में ऋत्विज और स्त्रियों के साथ परस्पर में सवाद का वर्णन है और इनमें राज्य प्रकरण का कथन नहीं है। यदि आप राज्य प्रकरण का कथन सत्य समझते हैं तो श्रुति और सूत्र के प्रमाण सहित लिखिये।

७६—इस प्रकरण के मन्त्रों की सूत्रकारों मे निर्दिष्ट की हुई देवताए वेद विरुद्ध है। ये मन्त्र राज प्रकरण के ही हैं। प्रमाण के लिये देखिये ६५ वे प्रश्न का उत्तर और (१३ । २ । ३) शतपथ।

८०—स्वामी दयानन्द जी ने अपने वेदभाष्य में मन्त्रों के देवता इस प्रकार लिखे है—

२२–२३	राजप्रजे	२४–२५	भूमिसूर्यौ
२६–२७	श्रीर्देवता	२८	प्रजापति
२६	विद्वांसो	३०	राजादेवता

३१ राजप्रजे। इत्यादि मन्त्रों के देवता लिखे हैं, परन्तु अध्वर्यादीना कुमार्यादिभिरश्लीलाभाषण ता एव देवता। ३–४ इस मत्र के प्रमाण में उक्त देवता मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। यदि आप इन देवताओं को सत्य समझते हैं तो विधेय के अतिरिक्त विधायक ग्रन्थों के प्रमाण लिखिये।

८०—सूत्रकार का किया हुआ विनियोग वेद विरुद्ध है। ये मन्त्र राज प्रकरण के ही हैं। प्रमाण के लिये देखिये ६५ वे प्रश्न का उत्तर। ([illegible])

८१—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४६० में लिखा है "कि द्वीप और समुद्र द्विगुण २ विस्तार वाले इस पन्द्रह सहस्र की परिधि वाले भूगोल में क्योंकर समा सकते हैं।" और ऋषभदेव जी की उत्पत्ति असम्भव नामक पुस्तक के पृष्ठ १७ में लिखा है कि "इस पृथ्वी

का व्यास ही पच्चीस हजार मील है।" अब देखिये चेला का व्यास पच्चीस हजार मील और गुरु का व्यास पन्द्रह हजार मील। अब बतलाइये कि गुरु का कहना सत्य है या चेला का? और परस्पर विरुद्ध होने से दोनों ही कथन मिथ्या है। यदि आप समझते हैं तो प्रमाण सहित लिखिये।

८१—सूर्य सिद्धान्त के अनुसार भूमि की परिधि १५६२५ कोस आती है। "आधे करके करो सवाये, तो मीलों के कोस बनाये" इस हिन्दी के गुर के अनुसार १५६२५ कोस २५००० मील के लगभग होते हैं। और लगभग २५००० मील ही भूमि की परिधि मानी जाती है। ऋषि दयानन्द ने १५००० कोस की परिधि वाला भूगोल लिखा है। यहां वे पूरा २ हिसाब तो लिखने बैठे ही न थे, हजारों की सख्या पूरी लिख दी और ऊपर के ६२५ कोस आम बोल-चाल के व्यवहार के ढङ्ग से छोड़ दिये। इस प्रकार उनका तात्पर्य भी लगभग २५००० मील की परिधि मे ही बैठता है। ऋषभदेव जी ने २५००० मील सख्या परिधि के लिये ही लिखी होगी और गलती से परिधि की जगह व्यास लिखा गया होगा। ऐसी गलती बहुधा हो जाया करती हैं। जैसे कि आपने ही प्रश्न में लिख दिया है कि "गुरु का व्यास पन्द्रह हजार और चेले का व्यास २५२००" और वस्तुत ऋषि ने जिन्हें आपने गुरु का नाम दिया है १५००० परिधि लिखी है व्यास नहीं और वे १५००० भी कोस लिखे है मील नहीं। इसलिये जैसी गलती परिधि को व्यास लिखने में और कोस को मील समझने मे यहा आप से हो गई है, वैसी परिधि को व्यास लिखने मे ऋषभदेव जी से हो गई होगी। अब आप समझ गये होंगे कि यहा ऋषभदेव जी की ऋषि दयानन्द और वर्तमान भूगोल के पण्डितों ने की परिधि में कोई अन्तर् नहीं है। अब आप बतलाइये कि ये अरबों कोसों के सात द्वीप और समुद्र जिन्हे कि आप के तीर्थङ्करों ने इस एक २५००० की परिधि वाली भूमि में लिखा है इस तरह की

कितनी भूमियों में समाएंगे। सलेट कलम उठाइये, हिसाब जोड़िये और तीर्थङ्करों की सर्वज्ञाता की पड़ताल कीजिये।

८१—यजुर्वेद अध्याय ३३ मन्त्र २५ में लिखा है कि "यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।" यानी जितने परिमाण मे द्युलोक और भूलोक हैं तथा जितने परिमाण में क्षीरोदधि आदि सात समुद्र बड़े विस्तार में स्थित हैं।

इस मन्त्र में पृथिवी और सप्त सिन्धव ऐसे दोनों शब्द पाये जाते हैं, इससे सात द्वीप और समुद्रों का होना सिद्ध है। और इसी मन्त्र के आधार से व्यास जी ने योग दर्शन के भाष्य में लिखा है कि (तदेतद्योजन—शतसहस्र सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्द्धेन व्यूढ मखल्वय शतसहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततोद्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टित ततश्च द्विगुणा शाककुशक्रौ चशाल्मलगोमेध-पुष्कर—द्वीप सप्तसमुद्राश्च सर्षपराशिकल्पा) अब सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का परिमाण कहते —सो यह सौ हजार योजन सुमेरु की सब दिशाओं से लम्बे पन मे और तिससे आधे भाग करके चौडाई में है सो यह सौ हजार योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है। तिससे द्विगुण लवण समुद्र है। तिससे द्विगुण शाककुश क्रौश शाल्मलगो-मेधपुष्कर इन नाम वाले द्वीप हैं। और सात समुद्र तो सर्षप की राशि तुल्य हैं जैसे लवण इक्षुरस सुरासर्पि दधिमण्ड क्षीरस्वादुक इन नाम वाले सात समुद्र हैं। इस प्रकार द्वीप और समुद्र एक दूसरे से द्विगुण २ विस्तार वाले है। किन्तु स्वामी दयानन्द जी ने पन्द्रह सहस्र परिधि वाला ही भूगोल लिखा है।

आप बतलावे कि स्वामी दयानन्द का कथन सत्य है या वेद का ? यदि स्वामी जी का कथन सत्य है तो इसमे प्रमाण लिखिये।

८२—आप लोगों को धोखा देने की तो पर्याप्त चेष्टा करते हैं परन्तु ठगी को ताड़ने वाले भी ताड़ ही जाते है। आपने इस लेख मे लिखा है कि बताओ स्वामी जी का कथन ठीक है या वेद का। कृपया हृदय की आंखे खोल कर देखिये वेद ने सात सिन्धुओं

द्युलोक तथा पृथिवीलोक का जिकर किया है या उनके परिमाण का भी। जो यजुर्वेद का मन्त्र आपने दिया है इसमें तो इनके परिमाण का कहीं नाम तक भी नहीं है। फिर बतलाइये वेद के और स्वामी जी के कथन में विरोध कहा है जिस कि आपने लिखा है। श्रीमान जी बात यह नहीं है, बात तो वस्तुत यह है कि ऋषि दयानन्द के प्रश्नों का उत्तर ता आप दे न सके, लगे व्यास जी का सहारा ढूढने। परन्तु इस तरह आपका पिण्ड छूट कहा सकेगा? असम्भव बाते चाहे व्यास जी के भाष्य में प्रक्षिप्त हों और चाहे उनकी अपनी हों हमारे लिये सब अप्रमाण है। आपने डूबते समय रेत को हाथ डाला था, परन्तु खेद है कि वह भी खिसक गया। हम ऋषि के उसी आक्षेप को यहा फिर दुहरा देते हैं, इधर उधर हाथ न मारिये सीधा उत्तर दीजिये।

आपके मत में जम्बू द्वीप एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोस, उससे परे दूसरा द्वीप आठ लाख कोस, उससे परे तीसरा द्वीप १६ लाख कोस, उससे परे चौथा द्वीप बत्तीस लाख कोस, उससे परे पाचवा द्वीप चौसठ लाख कोस, उससे परे छटा द्वीप एक करोड अठाईस लाख कोस और उससे भी परे सातवा द्वीप दो करोड़ छप्पन लाख कोस परिमाण का है। यह तो द्वीपों का परिमाण है इसके अतिरिक्त इन स्थलों को द्वीप बनाने वाले समुद्रों का परिमाण भी आप अपने हिसाब से ही लिख लीजिये। अब इन सातों द्वीपों और समुद्रों के परिमाण को जोडिये और फिर विचार कीजिये कि जिस भूमि की परिधि न्यूनाधिक पच्चीस हजार मील है, उसमें ये इतने विस्तार वाले द्वीप और समुद्र किस प्रकार समा सकेंगे। और क्या फिर इस महा असम्भव परिमाण का प्रकट करने वाला कोई भी तीर्थङ्कर भूगोल का साधारण ज्ञान भी रखता है। और फिर क्या ऐसी अवस्था में वह सर्वज्ञ कहलाने का अधिकारी है?

८३—प० देवेन्द्रनाथ जी शास्त्री सांख्यतीर्थ आचार्य गुरुकुल

सिकन्दराबाद अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६ में लिखते हैं कि 'सुमेरु पर्वत अवश्य ही निन्यानवे हजार अर्थात् चार लाख कोस ऊचा होना चाहिये। हम पूछते हैं इस पृथ्वी तल के रहने वाले मनुष्यों में से यदि किसी ने इतना ऊचा पर्वत सुना या देखा हो तो कृपा कर हमको सूचित करें इत्यादि।' सो आप योरुप वासी व अन्य मनुष्यों से न पूछ करके केवल व्यास जी के भाष्य को ही देख लेवें क्योंकि उसमें लिखा है कि (तदेतद्योजनशतसहस्त्र सुमेरो)। अर्थात् सुमेरु पर्वत एक लाख योजन के विस्तार वाला है और इसका बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है। यदि आप हिमालय पर्वत को ही सुमेरु समझते हैं तो आर्ष वाक्य लिखिये।

८३—पण्डित देवेन्द्रनाथ जी की पुस्तक हमारे सामने नहीं। इसलिये उन्होंने किस भाव से क्या लिखा है, इसका, उनके लेख का उपक्रम और उपसहार देखे बिना हम कुछ निर्णय नहीं कर सकते। हमारी यह भी समझ मे नहीं आ रहा कि आप, ऋषि के माने हुए वैदिक सिद्धान्तों पर शङ्का कर रहे हैं या आर्य विद्वानों के लेखों पर व्यवस्था ले रहे हैं। आगे चल कर आपने फिर व्यास जी के लेख का राग अलापना आरम्भ कर दिया है। हमने पहिले भी लिखा है कि व्यास के भाष्य का यह अश एक प्रक्षिप्त निबन्ध और असम्भव कल्पना है। अन्तर केवल इतना है कि इस प्रक्षेप के लेखक ने एक सेर की गप्प मारी है तो आपके तीर्थङ्करों ने एक मन की।

हिमालय ही सुमेरु है। इसके लिये आप प्रमाण पूछ रहे हैं। प्रमाण नीचे पढिये।

पञ्चमहाभूतमय तारागणपञ्जरे महीगोल।
खेऽयस्कान्तस्थो लोह इवावस्थितो वृत्त ?
तरुनग नगराराम सरित्समुद्रादिमिश्रित सर्व।
विबुधनिलय सुमेरु स्तन्मध्येऽध स्थिता दैत्या ।२।
सकृदुदित षण्मासान् दृश्योऽर्कोमेरुपृष्ठ सस्थानाम्।

मेषादिषु षट्सुचरन परतो दृश्य स दैत्यानाम ।३।

(वराह मिहिर)

यह पाच भूतों से बना हुआ भूमि का गोला, तारागणों के झुण्ड के बीच मे आकाश मे इस प्रकार ठहरा हुआ है जैसे चुम्बकों के बीच में लोहे का गोला ।१। यह सारा, वृक्ष, पहाड नगर, बागीचे, नदी और समुद्र आदि से जडा हुआ है । इसके बीच में ऊपर का भाग सुमेरु है जिस पर रहने वाले देवता कहलते है । और नीचे के भाग अर्थात् दक्षिणी ध्रुव पर रहने वालों की दैत्य सज्ञा है ।२। सुमेरु की पीठ पर अर्थात् उत्तरी ध्रुव पर रहने वालो को एक बार निकला हुआ सूर्य छ मास तक दीखता रहता है । ये छ मास वे हैं जिनमें सूर्य मेष आदि छ राशियों मे रहता है । और छ राशियों में सूर्य के जाने पर दक्षिणी ध्रुव पर रहने वाले दैत्यो को सूर्य छ मास तक दीखता रहता है ।३।

यहा पर पृथिवी के सब से ऊँचे उत्तरी ध्रुव स्थान को सुमेरु कहा गया है । छ मास के दिन रात का होना इस स्थान को ध्रुव ही प्रमाणित करता है । यह स्थान सदा हिम या बर्फ से ढका रहता है । इसलिये इसका हिमालय ही नाम है । और इसी को यहा सुमेरु कहा गया है ।

८४—सत्यार्थ प्रकाश के पृष्ठ ४६० में लिखा है कि भला कुरुक्षेत्र बहुत छोटा देश है उसको न देख कर एक मिथ्या बात लिखने मे उनको लज्जा भी न आई इत्यादि । सो लज्जा व शर्म उसे आनी चाहिये जो वेद वा प्रतिज्ञा के विरुद्ध लिखे परन्तु जिस कुरुक्षेत्र को लक्ष्य करके यह लिखा गया है वह कुरुक्षेत्र यह नहीं है क्योंकि योग दर्शन के भाष्य में व्यास जी ने लिखा है कि (तस्य नीलश्वेतशृङ्गवतउदीचीनास्त्रय पर्वता द्विसहस्रायामा । तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसहस्राणिरमणक, हिरण्यमय उत्तरा कुरव इति । तिस सुमेरु पर्वत के उत्तर भाग मे नील और श्वेत रग वाले दो दो हजार योजन वाले तीन पर्वत हैं उन पर्वतों के बीच २ में नौ २ हजार योजन के रमणक, हिरण्य और

उत्तर कुरु ये तीन क्षेत्र हैं। अब देखिये कुरुक्षेत्र यहां पर छत्तीस हजार कोस का लिखा है। अब बतलाइये कि जिस कुरुक्षेत्र को लक्ष करके आपने आक्षेप किया है वह कितना बडा है जरा प्रमाण सहित लिखिये ?

८४—श्रीमान जी ! ऋषि दयानन्द ने तो वेद के विरुद्ध कहीं एक अक्षर भी नहीं लिखा। प्रत्युत जहां कहीं वेद के विरुद्ध कुछ लिखा देखा उसका प्रबल खण्डन किया है। शरम तो उन्हें आनी चाहिये जो भूगोल जैसी नपी तुली चीज के लिये भी गप्पें मारने में नहीं हिचकिचाते। आप लिखते हैं कि जिस कुरुक्षेत्र का जिकर हमारे गुरुओं ने किया है वह कुरुक्षेत्र यह नहीं और है। आप भूगोल का सारा चित्र हाथ में उठा कर देखिये और अब खोजिये कि वह कौन सा कुरुक्षेत्र है जिसमें आप के तीर्थङ्करों की चौरासी हजार नदियें लिखी हैं। अपने ग्रन्थ प्रकरण रत्नाकर भाग चार को पढिये "कुरु नइ कुलसी सहसा" (कुरुक्षेत्र की नदियें चौरासी हजार हैं) कुरुक्षेत्र में तो क्या सारे भूगोल में भी चौरासी हजार नदियें खोजते समय आपको लेने के देने पड़ जावेंगे। आप जब उत्तर नहीं आता तो बार २ व्यास भाष्य का सहारा लेने दौड़ते हैं। इसके लिये हम पहिले लिख चुके हैं कि व्यास भाष्य का यह प्रकरण प्रक्षिप्त है, और गप्प है। परन्तु यह गप्प है आप के गुरुओं से बहुत थोडी। और सम्भव है इस प्रकरण का प्रक्षेप करने वाला भी आप का कोई गुप्त वेश धारी पुराना गुरु भाई ही हो क्योंकि ऐसी गप्प मारने का साहस और किसी मत वादी को हो नहीं सक्ता था।

८५—सत्यार्थ प्रकाश ४८६ की समीक्षा में लिखा है कि 'भला पल्योपम का आयु और तीन कोस का शरीर भूगोल में बहुत थोड़े समा सके इत्यादि।' सो इस लेख से ज्ञात होता है कि आपने निरुक्तादि ग्रन्थों का अवलोकन नहीं किया। यदि किया होता तो आपको ऐसी समीक्षा करने का अवसर ही न मिलता। देखिये निरुक्त में लिखा है कि (शत जीव शरदो वर्धमान) इस मन्त्र में

शत शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है कि (शतमनन्त भवति । शत दीर्घमायु । शतमिति) शत शब्द का अर्थ अनन्त व दीर्घ आयु किया है और सौ भी किया है। और योग दर्शन के भाष्य में व्यास जी ने स्वर्गवासी देवताओं की आयु कल्पों की लिखी है। और बाल्मीकि रामायण में राजा सगर की आयु तीस हजार वर्ष की। और राजा दशरथ की साठ हजार वर्ष को तथा अशुमान की बत्तीस हजार वर्ष की लिखी है। अब बतलावें कि अनन्त व दीर्घ आयु अधिक है या पल्योपम ?

(क) 'तीन कोस का शरीर भूगोल में बहुत थोड़े समा सके इत्यादि।' आपकी लिखित गाथा के अर्थ का विचार तो हम पीछे लरेंगे परन्तु वेद में इससे भी दूना शरीर लिखा है देखिये अथर्व वेद काण्ड ११ अ० ४ सू० ४ में लिखा है कि (षाट्कौशिकस्य शरीरस्य मध्ये आत्मत्वेन प्रविष्ट । इति सूत्र) छह कोस वाले शरीर के मध्य मे आत्म स्वरूप मे प्रविष्ट है। वाल्मीक रामायण युद्ध काण्ड सर्ग ६५ पृष्ठ १३८ मे कुम्भकर्ण के शरीर की लम्बाई चौडाई इस प्रकार लिखी है (धनु शतपरीणाह सषटशतमसु-च्छ्रित । रौद्र शकटचक्राक्षो महापर्वतसन्निभ) उस समय कुम्भकर्ण का शरीर शतधनुप अर्थात् ३०० हाथ की चौड़ाई मे था और एक शत ६ धनुप अर्थात् ३१८ हाथ का लम्बा था। छकडे के पहियों के समान उसके नेत्र थे और पर्वत के समान दिखाई देता था। और रामलीला में रावणादि के शरीर अब भी बडे २ दिखलाये जाते हैं और वर्तमान समय मे भी सिक्ख व अफगानी और गोरखे आदि इन सबके शरीर एक से नहीं हैं। अब आप बतलावें कि वेदानुकूल छह कोस वाला शरीर बड़ा है या तीन कोस वाला ? लिखिये।

८५—निरुक्त तो खूब पढा है और निरुक्त के वैदिक विज्ञान के आश्रय से ही सब भाष्य किये गये है। सम्भवत आप ने ही अपने तीर्थङ्करों की यह पौराणिक लीला अभी तक नहीं पढी।

अन्यथा इस गडबड चौथ को पढ कर विरोध मे कुछ लिखने का साहस ही न करते। अस्तु ! निरुक्तकार ने वेद मे आये शत शब्द के तीन अर्थ किये हैं। शत मनन्त भवति, शत दीर्घमायु, शत मिति" इसका तात्पर्य यह है कि वेद मे शत शब्द कहीं अनन्त अर्थ में आता है, कहीं दीर्घ आयु अर्थ में, और कहीं सौ अर्थ मे। इन तीनों अर्थों में से बीच वाले अर्थ के साथ निरुक्तकार ने आयु का सम्बन्ध जोडा है। तात्पर्य यह है कि वेद में जहा आयु के लिये शत शब्द आवे उसका अर्थ लम्बी आयु समझना शेष दो अर्थ वेद के अन्य प्रकरणों में आये शत शब्द के लिये हैं। और यह लम्बी आयु सौ डेढ सौ, दो सौ या इससे कुछ अधिक जहा तक मनुष्य की आयु का आना सम्भव हो मानी जा सकती है। अब आप अपने ग्रन्थो मे लिखे आयु के पल्योपम परिमाण की पडताल कीजिये। इस परिमाण का विस्तार हम आपके ग्रन्थ रत्न-सार भाग पृष्ठ १०५ के आधार पर लिखते है। ५१०

सूक्ष्म काल को समय कहते हैं। असख्यात समयों का नाम आवलि है। एक करोड सतसठ लाख सत्तर हजार दो सौ सोलह आवलियों का एक मुहूर्त होता है। वैसे ३० मुहूर्तों का एक दिवस वैसे पन्द्रह दिवसों का एक पक्ष, वैसे दो पक्षों का एक मास, और वैसे बारह मासों का एक वर्ष होता है। वैसे सत्तर लाख करोड और छप्पन हजार करोड वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे असख्यात पूर्वो का एक पल्योपम काल होता है। इस का नाम है पल्योपम काल पाठकों की समझ में अभी भी यह पल्योपम काल तब तक न आ सकेगा जब तक कि असख्यात शब्द का अर्थ न समझ लिया जावे। यहा असख्यात शब्द दो जगह आया है एक तो समय को आवलि बनाने में, और दूसरा पूर्व का पल्योपम बनाने में अत ये दोनो ही काल असख्यात पद का अर्थ जाने बिना अपूर्ण रहेंगे। अब पाठक महोदय गणित शास्त्र की एक अनूठी चीज असख्यात पद की परिभाषा को पढे।

एक चार कोस का चौरस और उतना ही गहरा कुआ खोद कर, उसे जुगलिये मनुष्य के शरीर के निम्नलिखित बालों के टुकड़ों से भर दिया जावे। "जुगलिये मनुष्य में यह विशेषता है है कि मनुष्य के बाल से उसका बाल चार हजार छयानवे भाग बारीक होता है"। ऐसे जुगलिये मनुष्य के एक अगुल बाल के सात बार आठ २ टुकड़े करने से बीस लाख सतानवे हजार एक सौ बावन टुकड़े होते हैं।

ऐसे टुकड़ों से पूर्वोक्त कूए को भरना। उसमे से सौ वर्ष के अन्तर से एक २ टुकडा निकालना। जब सब टुकडे निकल जावे और कुआ खाली हो जाये तो भी वह सख्यात काल ही है। अब की बार उन टुकडों से इस कूए को ऐसा ठसा २ कर भरना कि उसके ऊपर से चक्रवर्ती राजा की सेना गुजर जावे तो भी न दबे। पाठक घबराए नहीं प्रेस करने की मशीनों का आविष्कार हो चुका है अब बालों को इतना प्रेस किया जा सकेगा कि उसके ऊपर से सेनाए गुजर जावे। उन टुकड़ों में से सौ सौ वर्षो के अन्तर से एक २ टुकडा निकाला जावे। जब वह कूआ खाली हो जावे तो उस काल को असख्यात काल कहेंगे। और ऐसे असख्यात पूर्वो का एक पल्योपम काल होता है। और यह ही मनुष्यों की आयु का परिमाण है। हा तो विशारद जी हिसाब लगाइये यह पल्योपम काल कितने वर्षो का हुआ। और इस लम्बे चौडे काल मे एक मनुष्य की कितनी पीढिये उसके जीते जी तैयार होंगी और जीवित रहेंगी। और जब कि उन सब के शरीर आपके मतानुसार तीन २ कोस लम्बे हैं और उन सब की उमरें भी इतनी ही लम्बी २ होंगी तो वह पृथिवी कितने दिनों मे भर जावेगी। हमारी समझ में तो उस मनुष्य के जीवन काल में ही इस पृथिवी पर स्थान न रहेगा इस पृथिवी के भर जाने पर उनके लिये और पृथिवी बनाई जावेगी या इसी में एक के ऊपर दूसरा चिनना आरम्भ कर दिया जावेगा। और उनके साथ रहने वाले पशुओं पक्षियों तथा अन्य जन्तुओं के भी आयु और शरीर का परिमाण

भी यदि इसी अनुमान से गिनना आरम्भ करें तो कृपया सोचिये क्या दशा होगी। आपने बाल्मीकि रामायण में लिखी आयु का नाम लिखा है वह आप की तरह की लम्बी तो नहीं कि गिनी ही न जासके परन्तु है वह भी असम्भव। उसे आप हमारे शिर मढ़ने का यत्न न करें। क्योंकि हम ऐसी असम्भव बातों को मानते ही नहीं। (क) आपने एक अथर्ववेद का नाम लेकर प्रमाण दिया है उसका उत्तर सुन लीजिये। प्रश्न के इस अंश को उठाते समय तो आप ने साम्प्रदायिकता के चक्र मे पड़ कर संस्कृत साहित्य को ही तिलाञ्जलि दे दी है। आप अपना ही लिखा हुआ उठा कर पढ़िये यहां "षाट् कौशिक" शब्द लिखा है या "षाट् कौशिक" और कोष उठा कर देखिये और बतलाइये कि कोस के अर्थ में कोस शब्द आता है या कोश। और यदि कोस शब्द आता है तो षाट् कौशिक शब्द का अर्थ छः कोस का शरीर आपने कैसे किया। श्रीमान् जी जिन तत्वों से मिल कर शरीर बना है ऐसे ६ कोशों का यहां जिकर है कोस परिमाण का नहीं। कुम्भ कर्ण के शरीर के लिये भी रामायण में वैसी ही गप्प है जैसी कि कई गुणा अधिक आपके तीर्थङ्करों की। कृपया यह भी लिखें कि यह मन्त्र अथर्ववेद मे कहा है। और इसके आगे इति सूत्रम् क्यों लिखा है।

८६—यजुर्वेद अध्याय ३८ मन्त्र २६ के अनुसार सात द्वीप और सात समुद्रों का होना सिद्ध है। और व्यास भाष्य के अनुसार द्वीप से समुद्र और समुद्र से द्वीप प्रत्येक एक दूसरे से द्विगुण २ विस्तार वाले है जैसे जम्बू द्वीप एक लाख योजन का तो लवण समुद्र दो लाख योजन का है। यदि इन द्वीप और समुद्रों का कुल विस्तार जोड़ा जाय तो (पचाशद्योजन-कोटिपरिसंख्याता) अर्थात् पचास कोटि योजन के विस्तार में सब पाये जाते हैं। अब आप बतलावें कि इन द्वीप और समुद्रों में कितने सूर्य व चन्द्रमा प्रकाश कर सकते हैं। यदि पन्द्रह सहस्र परिधि वाले भूगोल की भांति एक चन्द्र व एक सूर्य ही प्रकाश कर सकता है तो किस प्रकार ? जरा लिखिये।

८६—हम पहिले भी लिख चुके हैं कि वेद मन्त्र मे सात द्वीपों और समुद्रों का तो जिक्र है उनके परिमाण का नहीं। श्याम भाष्य में लिखा हुआ परिमाण असम्भव होने से प्रक्षिप्त और इसीलिये अप्रमाण है, क्योंकि इस भू-मण्डल में इस परिमाण के समुद्र और द्वीप समा ही नहीं सके। इस भूमण्डल को एक ही सूर्य और एक ही चन्द्रमा प्रकाशित कर रहे हैं। इस विषय के लिये प्राचीन तथा नवीन सब ही भूगोल विद्या के विद्वानों के विचार समान हैं। इस एक ही सूर्य और चन्द्रमा को मान कर सारे ग्रहों की गतिये और ग्रहण आदि प्रभात हिसाब से सर्वथा ठीक बैठते हैं। अब आप अपने घर का हिसाब किताब पढिये।

आप के श्री जिन भद्रगणी क्षमाश्रमण ने 'संग्रहणी" 'चौतीस करण्डक पयन्ना" चन्द्रपन्नति तथा सूर्यपन्नति में इस प्रकार लिखा है। जम्बूद्वीप में दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं। लवण समुद्र मे चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं। धात की खण्ड में १२ चन्द्रमा और ४२ सूर्य कालोदधि समुद्र में हैं। इसी प्रकार अगले द्वीप और अगले समुद्र में उनके कथनानुसार ४२ को तिगुना करने से १२६ चन्द्रमा और १२६ सूर्य बैठते हैं। उनमे धात की खण्ड के १२ लवण समुद्र के चार और जम्बूद्वीप के दो मिलाने से १४४ होते है। इस प्रकार १४४ चन्द्रमा और १४४ सूर्य पुष्कर द्वीप मे हैं। यह आधे मनुष्यक्षेत्र की गणना है। जहा मनुष्य नहीं रहते वहा भी बहुत से चन्द्रमा और बहुत से सूर्य हैं। पूर्वोक्त १४४ को तिगुना करने से ४३२ होते हैं। इनमें दो दो जम्बूद्वीप के, चार चार लवण समुद्र के, बारह बारह धात की खण्ड के और बयालीस कालोदधि के मिलाने से ४९२ होते हैं। इस प्रकार एक तरह ४९२ दूसरी तरफ अनन्त चन्द्रमा और सूर्य भूमण्डल को प्रकाशित करते हैं। शोक की बात है कि इतने चन्द्रमा और सूर्यों के होते हुए भी बेचारे ध्रुव पीठ पर रहने वालों को ६ मास अंधेरे मे ही रहना पडता है। क्या कृपया यह बतलाने का कष्ट करेंगे कि जम्बूद्वीप वाले दो चन्द्रमा और दो सूर्यों का हैडक्वार्टर कहा है

क्योंकि उन्हें सारे भूमण्डल को तो प्रकाशित करना ही नहीं पड़ता वे तो केवल हमारे जम्बू द्वीप के ही लिये हैं और इसी प्रकार यदि समस्त भूमण्डल से इनका सम्बन्ध नहीं तो भूगोल की गति के आधार पर होने वाले चन्द्रमा के वृद्धि, क्षय और ग्रहण तथा सूर्य के ग्रहण की व्यवस्था आप किस विधि करेंगे ? कृपया अटकल पच्चू नहीं व्यवस्थित गणित के प्रमाण सहित उत्तर दीजिये। श्रीमान् जी समझ में नहीं आता कि इस विज्ञान युग में भी आखे बन्द कर इन गप्पों को आप कैसे मान रहे हैं। हा किसी परलोक की बात के सम्बन्ध में जहा कि किसी की पहुच नहीं, कोई किसी प्रकार की गप्प मार दे तो सम्भव है उस पर कुछ देर पर्दा पडा रहे। परन्तु ग्रह गण सम्बन्धी गणित का विषय जो कि प्रत्येक अनुभवी गणित शास्त्री को हाथ की अगुलियों की तरह प्रत्यक्ष है उससे सिद्ध है उसके लिये मारी हुई गप्प कैसे चल सकेगी इसे आप भली भाति सोचे।

८७—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४५३ में लिखा है जब मनुष्य-मात्र पर दया नहीं वह दया न क्षमा, ज्ञान के बदले अज्ञान, दर्शन के बदले अन्धेर और चारित्र के बदले भूखे मरना कौन सी अच्छी बात है इत्यादि" सो यहा पर विचार प्रवृत्ति मार्ग के अतिरिक्त विधि मार्ग का है। यदि आप वेदों के विषय में विचार करेंगे तो जैसे अश्वमेध यज्ञ में अश्व के प्रत्येक अङ्ग हवन किये जाते हैं उसी तरह नरमेध यज्ञ में मनुष्य की बलि देना भी लिखा है (ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते अथैतानष्टौ विरूपानालभते) इसका विशेष आख्यान ऋग्वेद व उसके ऐतरेय ब्राह्मण मे लिखा है। और जब कि वेदों में नरबलि तक का विधान मौजूद है तब दया, क्षमा व व्रतादि की तो बात ही क्या है। अब आप बतलावे कि जो महाप्रलय का कर्ता ईश्वर और उसके कहे हुये उक्त वेद क्योंकर दया व क्षमा के विधायक हो सकते हैं। लिखिये ?

८७ वेद में घोड़े के अङ्गों का हवन कहीं भी नहीं लिखा,

यह विषय हम पिछले प्रश्नों के उत्तरों में भली भांति स्पष्ट कर आये हैं। "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते" इसका अर्थ स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान के लिये ब्राह्मण को प्राप्त करे, ब्राह्मण के समीप जावे। कृपया बतलाइये इस वाक्य में से नरमेध कहा से निकल आया। जिस प्रकार प्राणियों के विश्राम के लिये रात्रि आती है, इसी प्रकार सब भूत गण और प्राणि मात्र के विश्राम के लिये प्रलय नामक रात्री आती है। इस लिये प्रलय प्राणि मात्र को सुख देने के लिये उनके कर्मानुसार आता है न कि दुःख देने के लिये। अब आप अपने घर में झांकी मारिये और विवेकसार के पृष्ठ २२१ में लिखी दया का नमूना पढ़िये।

एक परमती की स्तुति या गुण कीर्तन कभी न करना। उनको नमस्कार भी न करना। उनके साथ आलापन और सलपन अर्थात् बोल चाल भी कभी न करना। उनको अन्न वस्तु आदि दान न देना। उनको गन्ध पुष्प आदि न देना। ये छः यतना हैं अर्थात् इनको जैनी कभी न करे। बाहरी दया-न परमत वाले भूखे को रोटी देनी और न भूले भटके को रास्ता बतलाने के लिये भी उस से बोलना। बलिहारी ?। और पढ़िये—विवेक सार पृष्ठ १०८ मे लिखा है—कि मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैन मत वालों ने अपना विरोधी समझ कर मार डाला और फिर "आलोयणा" अर्थात् प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो गये। कैसी प्रिय अहिंसा और कैसी कोमल दया है। दृष्टान्त तो और भी हैं परन्तु नमूने के लिये इतना ही पर्याप्त है।

८८—आगे लिखा है "कि कितनी भूल की बात है कि जो इनके चेले व आचार्य विद्वान् होते तो विद्वानों से प्रेम करते। जबकि इनके तीर्थंकर सहित अविद्वान् हैं तो विद्वानों को मान्य क्यों करें। इत्यादि।" सो तीर्थंकर व आचार्य तो वीतरागी होने से विद्वान से ही क्या ? बल्कि उन्होंने जीव मात्र से प्रेम करने की शिक्षा दी है और चेले भी उसका बराबर अनुकरण करते हैं परन्तु

जबकि महाप्रलय का कर्ता ईश्वर और उसके उपदेश किये हुये हिंसा के विधायक वेद हैं। तब उनमें जीव मात्र से प्रेम करने की शिक्षा क्योंकर हो सकती है। यदि उनमें प्रेम की शिक्षा हो सकती है तो लिखिये ?

८८—वेद तो कहता है "प्रिय सर्वस्य पश्यत" सबका भला-करो, सब से प्रेम करो। वेद मे इसी प्रकार सर्वत्र भूतदया का प्रतिपादन है हिंसा का कहीं भी नहीं। महाप्रलय भी प्राणियों के विश्राम के लिये भगवान् की व्यवस्था के अनुसार आता है। हम पहिले भी लिख आये हैं कि प्रलय के न आने से यह भूत वर्ग प्राणियों के भोग के योग्य फिर तैयार नहीं हो सका अत प्रलय भी भगवान् की करुणामयी देन ही है। आप की भूत दया और आप का विश्व प्रेम किस प्रकार का है इसका कुछ नमूना तो हम प्रश्न ८७ के उत्तर में दिखला आये हैं कुछ यहा और दिखलाये देते हैं। आप के विवेक सार पृष्ठ १६८ मे लिखा है। "जैनमत का साधु चाहे चरित्र हीन भी हो तब भी अन्य मत के साधुओं से अच्छा है। एक अनाचारी जैन साधु के मुकाबले में एक सदाचारी अन्य मत के साधु का कैसा अच्छा सत्कार किया गया है। धन्य हो ! हैं न प्रत्यक्ष मौलाना साहब का मनोभाव।

८९—सत्यार्थ प्रकाश द्वादशसमुल्लास पृष्ठ ४३२ में लिखा है 'कि जैनियों को उचित है कि अपनी विद्या विरुद्ध बातें छोड़ वेदोक्त सत्य बातों को ग्रहण करे तो उनके लिये बड़े कल्याण की बात है। इत्यादि।" स्वामी दयानन्द जी ने यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ६१ तथा इसी मन्त्र पर निरुक्त के विरुद्ध ही अर्थ करके वेद के असली प्रयोजन को दबा दिया है। और जब कि स्वामी जी ने वेद के विरुद्ध स्वय वेदार्थ कर सत्य बात को छिपा दिया तब जैनियों को वेदोक्त सत्य बात ग्रहण करने की सम्मति देना मिथ्या है। अब आप बतलावें कि वेदोक्त सत्य बात को कौन अस्वीकार करता है जरा लिखिये ?

८९—यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ९१ के विषय मे तो हम अपने विचार प्रश्न ६६ के उत्तर में स्पष्ट कर आये हैं—कि ऋषि का व्याख्यान वेदानुकूल निरुक्त के सर्वथा अनुकूल है विरुद्ध नहीं, इसे वहा ही पढ लीजिये। यहा आप अपने मत की विद्या विरुद्ध बातें कुछ और पढ़े।

"प्रकरण सार भाग ४ सग्रह सूत्र २६७" में लिखा है कि—सामान्यपन से एकेन्द्रिय का शरीर एक सहस्र योजन के परिमाण वाला उत्कृष्ट जानना। दो इन्द्रिय वाले शङ्खादि का शरीर १२ योजन का जानना। चार इन्द्रियों वाले भ्रमरादि का शरीर चार कोस का "यहा भूल गये, चार योजन का तो लिखते" और पञ्चेन्द्रिय एक सहस्र योजन अर्थात् चार सहस्र कोस परिमाण के शरीर वाले प्राणी इस भूमण्डल मे कितने समाएगे। इनके लिये मकान कितने २ बडे बनाने पडेगे। और उन पर डालने के लिये बीस हजार कोस के बीम कहा से आएगे। और अगर खम्भे लगाने पडे तो ये इतने लम्बे शरीर मकान में घुस कैसे सकेगे। कहिये ये सब बाते सम्भव हैं या असम्भव। आप को निमत्रण ठीक ही दिया गया है कि आप इस गप्प पन्थ को छोडिये और वेद के वैज्ञानिक धर्म की शरण में आइये।

९०—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४८५ मे लिखा है कि 'जो पृथिवी न घूमे और सूर्य पृथिवी के चारों ओर न घूमे तो कई एक वर्षों का दिन रात होवे इत्यादि।' सो ऐसा लिखना वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि वैदिक विद्वानों ने पृथिवी को स्थिर और सूर्य को गमन करने वाला माना है। जरा इधर देखिये। यजुर्वेद अध्याय २३ मन्त्र १० में लिखा है कि (सूर्य एकाकी चरति) अर्थात् सूर्य अकेला गमन करता है। और यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ६ मे लिखा है कि (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभित येननाक) इस मन्त्र में पृथिवी को दृढा अर्थात् स्थिर लिखा है। अब आप बतलावे कि सूर्य व पृथिवी दोनों ही भ्रमण किस प्रकार करते हैं जरा प्रमाण सहित लिखिये ?

६०—"सूर्य एकाकी चरति" का भाव है कि सूर्य अपनी कक्षा में अकेला ही घूमता है। उसकी कक्षा में और कोई घूमने वाला नहीं है। "पृथिवी च दृढा" का भाव है पृथिवी के अवयव एक दूसरे के साथ इतने सटे हुए है कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। पृथिवी के घूमने का निषेध इस मन्त्र मे कहीं नहीं किया गया। "पृथिवी घूमती है" इसके लिये स्पष्ट प्रमाण आगे पढ़िये। "आय गौ प्रश्निरक्रमीत्" (यजुर्वेद अध्याय ३ मन्त्र ६) गौ शब्द का निर्वचन निरुक्तकार महर्षि यास्क के शब्दों में पढ़िये।—

"गौरिति पृथिवी नामधेयम्, यद्दूरगता भवति, यदस्या भूतानि गच्छन्ति" (गौ पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर २ जाती है, और इसमें प्राणी चलते है) कहिये पृथिवी और सूर्य का भ्रमण वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल है न ?

६१—आगे इसी पृष्ठ में लिखा है कि-सुमेरु, बिना हिमालय के दूसरा कोई नहीं इत्यादि। सो हिमालय पर्वत को सुमेरु पर्वत अब तक किसी वैदिक ऋषि ने नहीं माना देखिये। योग दर्शन के ३–२४ वे सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने लिखा है कि (निषध-हेमकूट-हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामा। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजन सहस्राणि हरिवर्षकिंपुरुष भारतमिति) सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग में दो दो हजार योजन के निषध, हेमकूट और हिमालय तीन पर्वत है। उन पर्वतों क बीच में नव नव योजन हजार योजन के हरिवर्ष, किं पुरुष और भारतवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं। अब आप बतलावे कि हिमालय को ही सुमेरु पर्वत आप किस प्रकार सिद्ध करते है जरा प्रमाण सहित लिखिये।

६१—(हम पहिले कई बार लिख चुके हैं कि व्यास भाष्य का यह प्रकरण असम्भव होने से प्रक्षिप्त है। हिमालय ही सुमेरु है इसके लिये पढ़िये २० वे प्रश्न का उत्तर)

६२—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४५६ में जो "अपने ही मुख से अपनी

प्रशंसा और अपने ही धर्म को बड़ा कहना और दूसरों की निन्दा करना यह मूर्खता की बात है क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है कि जिसकी दूसरे विद्वान् करें। अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं इत्यादि।" लिखा सो जिस प्रकार वेदों के विरुद्ध कार्य करने वाले वेदानुयायी को पापी व नास्तिक कहते हैं उसी प्रकार जैनागम के विरुद्ध उपदेश करने वाले जैनी को गाथा में दोषी व पापी बतलाया है फिर आप इसमें दूसरों की निन्दा करना किस प्रकार सिद्ध करते हैं। हा! वास्तव में देखा जाय तो सत्यार्थप्रकाश के ग्यारवें समुल्लास में अवश्य अनेक सम्प्रदायों की निन्दा लिखी है जैसा कि पृष्ठ ३५० मे लिखा है कि "भला! इन महाझूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर भीतर की फूटी आखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं व अन्य कोई इन भागवतादि पुराणों के बनाने हारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये? वा जन्मते समय मर क्यों न गये?" अब बतलाइये कि दूसरों की निन्दा करना वा गाली देना ये सभ्यों का काम है या मूर्खों का? यदि सभ्यों का है तो जरा प्रमाण द्वारा लिखिये।

६२—ऋषि दयानन्द ने उन्हीं बातों को बुरा कहा है जो सृष्टि नियम के विरुद्ध और असम्भव हैं और संसार में ऐसा अज्ञान फैलाने वालों को भी जनता को भ्रम में डालने वाले होने के कारण बुरा कहा है। वे सृष्टि नियम के अनुकूल, सम्भव और सदाचार को फैलाने वाली बातों को तो चाहे वे कहीं भी और किसी ने भी लिखी हों वेदानुकूल मानते हैं। जैन मत के बारे में ही उन्होंने लिखा है—जल छान के पीना, सूक्ष्म जीवों पर दया करना, रात्रि को भोजन न करना, ये बातें इनकी अच्छी हैं। (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १२) इसी प्रकार अन्यत्र भी जैन मत के यमनियमों को उन्होंने अच्छा माना है। सत्यार्थ प्रकाश के इसी द्वादश समुल्लास में लिखा है—अहिंसा (प्राणिमात्र को न मारना) सूनृता (प्रिय सत्यवाणी बोलना)

अस्तेय—(चोरी न करना) ब्रह्मचर्य (उपस्थ इन्द्रिय का संयम) अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का त्याग) ये बहुत सी बाते इनकी अच्छी हैं। इस प्रमाण से सिद्ध है कि ऋषि दयानन्द सब अन्य मतों की अच्छी बाते स्वीकार करने मे परम उदार हैं।

अब आप अपने ग्रन्थ देखिये—(प्र० सा० भा० २ षष्ठी० सूत्र १८) जैसे विषधर सर्प की मणि त्यागने योग्य है वैसे ही जो जैनमत में नहीं वह कितना ही धार्मिक पण्डित हो उसको त्याग देना ही जेनियों को उचित है। आगे पढिये—(विवेकसार पृ० १०) अर्णक मुनि चरित्र से चूक कर कई वर्ष तक दत्त सेठ के घर में विषय भोग करके पश्चात् देव लोक को गया। इस प्रकार चरित्रहीन जैन साधु को तो देवलोक को भेज दिया गया, और अन्य मत के सच्चरित्र महात्मा को त्याग देने का उपदेश दिया गया है। यहीं तक नहीं (विवेकसार पृ० १०६) में लिखा है कि श्री कृष्ण तीसरे नरक मे गया। (विवेकसार पृ० ५५) में लिखा है गङ्गा आदि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्र सेवन करने से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और अपने गिरनार, पालीटाणा, आबू आदि क्षेत्र मुक्ति तक के देने वाले हैं। हमने तो यहा ये दो तीन ही उदाहरण दिये हैं आपके ग्रन्थ के ग्रन्थ परमत की निन्दा से भरे पडे हैं। बुरी बातों पर शङ्का करना बुरा नहीं यदि वह सुधार भावना से की गई हो। परन्तु अच्छी बातों और भले पुरुषों की भी निन्दा करना भले पुरुषों का काम नहीं कहा जा सकता।

६३—सत्यार्थ प्रकाश द्वादशवा समुल्लास पृष्ठ ४३० में लिखा है कि "जैनियों के आचार्य जानते थे कि हमारा मत पोलवाल है जो दूसरों को सुनावेगे तो खण्डन हो जायगा—इत्यादि।" सो जैनाचार्यो ने तो अहिंसा धर्म का ही उपदेश दिया है इस लिये उन्हें पोलपाल खुलने व खण्डन होने का भय कुछ भी नही था। परन्तु स्वामी दयानन्द जी को वेदों की पोल पाल खुलने व खण्डन होने का भय

था इसी कारण उन्होंने वेदविरुद्ध वेदार्थ कर उस हिंसामय पोल को छिपा दिया है। अब आप बतलावे कि पोल खुलने का भय किसको था ? लिखिये।

६३—वेदों में हिंसा का कहीं नाम भी नहीं। प्रत्युत वेद कहता है य पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते योऽश्व्येन पशुनायातुधान, तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोम शिरो अस्य धृष्णु"। (जो पुरुष-राक्षस, पुरुष के, घोड़े के या अन्य पशु के मांस से अपने शरीर को चमकाता है उसे वीर राजा वज्र से मार दे। और प्रभावशाली शान्ति का अध्यक्ष उसके शिर को तोड दे) यह है हिंसक लोगों के लिये वेद का दण्ड विधान। वेद की यह स्पष्ट घोषणा होते हुए वेद के शिर हिंसा का कलंक मढने का किसी का साहस नहीं हो सकता। आप लिखते हैं कि जैन मत में पोल पाल है ही नहीं। वह पोल-पाल पहिले भी पर्याप्त दिखाई जा चुकी है अब और पढ लीजिये—(विवेकसार पृ० ७८) में लिखा है "एक करोड साठ लाख कलशों से महावीर को जन्म के समय स्नान कराया गया" कृपया बतलाइये जन्मते ही कोमल बालक के शिर पर एक करोड साठ लाख घडे पानी का डाला जाना, क्या सम्भव और बुद्धि सम्मत है। (विवेक-सार पृ० १३६) में लिखा है—दशार्ण राजा महावीर के दर्शन को गया, उसने वहा कुछ अभिमान किया, उसके निवारण के लिये, सोलह अरब, सत्तर करोड, बहत्तर लाख, सोलह हजार इन्द्र और तेरह पद्म, सैंतीस नील, पाच खर्व, बहत्तर अरब अस्सी करोड, इन्द्राणिया वहा आई थी। यह देख कर राजा चकित रह गया। यह शरीर धारियों की सख्या कहा से आई और कहा खडी हुई होगी ?। क्या इस कोरी गप्प को आपकी बुद्धि स्वीकार करती है ?। यह और इसी प्रकार की अन्य असम्भव बाते आपके ग्रन्थों में भरी पडी हैं। यह ही पोल पाल है जिसके कि खुल जाने का आपके आचार्यों को भय था।

६४—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४६४ में लिखा है कि "वाह रे वाह! विद्या के शत्रुओ तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनो

का कोई खण्डन न करेगा। इत्यादि।" सो आर्यसमाज की विद्वान्सो हि देवा) ३-७-३-१० इति श्रुते । यह मान्य श्रुति है इसके अनुसार ही देवताओं में सत्य का व्यवहार होना चाहिये परन्तु वेद के विरुद्ध वेदार्थ करने से उक्त श्रुति का आशय सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अब आप बतलावे कि स्वामी दयानन्द जी ने जो कर्म काण्ड को सर्वथा नष्ट भ्रष्ट कर केवल शब्दार्थ मात्र ही भाष्य किया है वह किस वेद मन्त्र के आधार पर किया है। और इससे पता भी लग जायगा कि वास्तव में वेद विद्या का शत्रु कौन है ? जरा प्रमाण सहित लिख कर बतलाइये।

६४—ऋषि दयानन्द ने तो अपना सारा भाष्य वेदानुकूल ही किया है वेद विरुद्ध नहीं। जहा २ आपने वेद विरुद्ध होने की शङ्काएँ की हैं उन सब का समाधान कर ऋषि के भाष्य को हम वेदानुकूल सिद्ध कर आये हैं।

अब आप "विद्या के शत्रु किस प्रकार हैं" इसके कुछ उदाहरण हम से सुन लीजिये—(रत्नसार भाग पृष्ठ १२) में जैन मूर्तिपूजा का फल यह लिखा है—कि "पुजारी को राजा व प्रजा कोई भी टोक नहीं सकता" अच्छा सर्टिफिकेट है, कोई पुजारी राजा के विरुद्ध कुछ बोल कर तो दिखलावे, देखे रोका जाता है या नहीं। "किसी ने मूर्ति पर पाच कौडी का फूल चढाया उसने अठारह देशों का राज्य पाया, उसका नाम कुमारपाल हुआ" (रत्नसार पृ० ३)। लोग यों ही स्वराज्य के लिये जाने दे रहे हैं, एक फूल चढ़ा दे और सारे महाराष्ट्रों पर अधिकार कर ले।

(रत्नसार भाग पृ० ५२) में लिखा है—"हम जल, चन्दन, चावल, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र, और अति श्रेष्ठ उपचारों से जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थङ्करों की सेवा करें।" आपके तीर्थङ्कर तो सिद्ध शिला के उस पार मोक्ष स्थान में बैठे हैं, आपके सिद्धान्त के अनुसार वे इधर आ ही नहीं सकते, आप उनकी पूजा इन वस्तुओं से किस प्रकार करेंगे। यदि ये सब चीज़े आप तीर्थङ्करों की नहीं, उनकी मूर्ति की भेट चढ़ाना चाहते हैं तो मूर्ति तो इन्हें उपयोग में

नहीं ला सकती उसे देने का लाभ क्या। कहिये हैं न ये सब अविद्या की ही बातें।

६४—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४८८ मे "अब देखिये ! इन की गिनती की रीति एक अगुल प्रमाण रोम के कितने खण्ड किये— यह कभी किसी की गिनती मे आ सकते हैं। और उसके उपरान्त मन से असख्यात खण्ड कल्पते हैं" लिखा है। सो द्वेष बुद्धि के कारण एक अगुल रोम के असख्य खण्ड हो सके—यह बात समीक्षक की समझ मे नहीं आई। चाहे कथन वेद के अनुकूल भी हो। परन्तु जैनियों का खण्डन करना आर्यसमाजी विद्वानों का खास कर्तव्य है। अब जरा इधर देखिये ! (वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते) श्वेताश्वतरोपनिषद् ५–६। (वालाग्रशतभागस्य) बाल के अग्र भाग के सौवें भाग का (च) और (शतधा) सौ भाग में (कल्पितस्य) कल्पना किये हुये का (भाग) भाग (स) वह (जीव) जीव (विज्ञेय) जानना (च) और (स) वह (आनन्त्याय) अनन्तता को (कल्पते) पाने योग्य होता है। इस श्रुति में बालके अग्र भाग के अनन्त खण्ड कल्पना किये हैं। अब आप बतलावे कि एक अगुल रोम के असख्यात खण्ड आपकी समझ मे आये या नहीं ? यदि नहीं तो प्रमाण सहित लिखिये।

६५—श्वेताश्वतर उपनिषद् मे बालों की गणना से काल की गणना नहीं की गई, वहा तो इस दृष्टान्त से जीव की सूक्ष्मता दिखलाई गई है। तात्पर्य यह है कि एक एक बाल के हजारो टुकडे भी कर लिये जावे। तब भी उस हजारवे भाग से भी जीव सूक्ष्म होगा। वह जीव अनन्त है और अविनाशी हैं। अब आप समझ गये होगे कि यहा तात्पर्य गणना से नहीं है। परन्तु आपके यहा तो काल की गणना का आधार बालों के अरबो टुकडों की गणना है। जिसे कि हमने प्रश्न ८५ के उत्तर में पल्योपम काल की गणना सर्वथा असभव है, यह भी वहा स्पष्ट कर दिया गया है।

६६—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४४८ में लिखा है कि "सुनो भाई !

भूगोल विद्या के जानने वाले लोगो ! भूगोल के परिमाण करने में तुम भूले या जैन ? जो जैन भूल गये हों तो तुम उनको समझाओ और जो तुम भूले हो तो उनसे समझ लेओ इत्यादि। सो अब जरा इधर देखिये—स्वामी दयानन्द जी वेदानुकूल होने से अन्य ग्रन्थों को भी उन्होंने प्रमाण कोटि मे स्वीकार किया है। फिर उनके मान्य वेद मे ही इस प्रकार लिखा है कि (यावती द्यावाभूमीयावच्च सप्तसिन्धवो वितस्तिरे) यजुर्वेद ३८–२६ जितनी सूर्य-भूमि और जितने बडे मान समुद्र विशेष कर स्थित हैं। इस यजुर्वेद के प्रमाण से भूमि और सात समुद्रों का कथन मौजूद है और इसी मन्त्र के आधार से व्यास जी ने योग दर्शन सूत्र ३–२४ के भाष्य में सात द्वीप और सात समुद्रों का कथन करते हुए समस्त पृथिवी का परिमाण इस प्रकार लिखा है कि (पचाशद्योजनकोटिपरिसख्याता) अर्थात् भूमि का परिमाण पचास करोड़ योजन है और सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४८८ मे स्वामी जी पन्द्रह सहस्र परिधि वाले भूगोल से अधिक मानते नहीं। अब आप बतलावे कि वेदानुकूल कथन किसका है और वेद–विरुद्ध किसका और कौन किसको समझावे जरा प्रमाण सहित लिखिये ?

६६—यह ठीक है कि ऋषि दयानन्द वेदानुकूल सब ग्रन्थो को प्रमाण मानते हैं। यदि आप का भी लोक लोकान्तरों का परिमाण वेदानुकूल होता तो अवश्य मान लिया जाता। परन्तु वस्तुत ऐसा है नहीं। हम पहिले लिख आए हैं कि वेदों में सात समुद्रों और द्वीपों का उल्लेख तो है उनके परिमाण का नहीं। व्यास भाष्य मे इनके परिमाण का जो उल्लेख किया गया है वह असभव होने से प्रक्षिप्त है और फिर आप के आचार्यो ने तो इनके परिमाण की मात्रा इतनी बढ़ाकर लिखी है कि इस प्रकार के कई भूगोलों मे भी ये न समा सके। इनके परिमाण का वर्णन आप प्रश्न ८२ के उत्तर मे पढ लीजिये। अत असभव होने से आप के इस परिमाण को वेदानुकूल और मान्य कोटि मे कैसे

गिना जा सकता था हम केवल आप के साथ सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं कि परमात्मा आप को सुबुद्धि दे और आप ऐसी असंभव बातों के पञ्जे से निकल जावें।

९७—सत्यार्थप्रकाश के मन्तव्य १२ में 'मुक्ति अर्थात् सब दुखों से छूट कर बन्धरहित सर्व व्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुन संसार में आना' लिखा है। सो मुक्ति कर्म के निमित्त से नहीं होती किन्तु कर्म वा लिङ्ग शरीर के अभाव से होती है और उस समय पुण्य पाप की व्यवस्था भी कुछ नहीं होती तब शुद्ध निरंजन होकर मुक्ति में सदा के लिये आनन्द भोगता है। देखिये मुक्ति विषय में कर्म अर्थात पुण्य पाप की व्यवस्था को श्रुति भी निषेध करती है। (यदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन परम साम्यमुपैति) ३-३ इति मुण्डकोपनिषद्। तब विवेकी पुण्य और पाप को दूर करके निर्मल हुआ परम समता को प्राप्त होता है तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ १३५ में लिखा है कि (ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्ष सुख को प्राप्त होवे जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के सदा के लिये आनन्द में रहते हैं। और जब कि सब दुखों से छूट कर बन्धरहित अवस्था को प्राप्त होते है तब ससार में क्योंकर आ सकते हैं? यदि आ सकते हैं तो लिखिये। (मुक्ति विषय)

९७—आप ने मुक्ति के विषय को छेड दिया है। यह विषय अपने निर्णय के लिये निम्न प्रश्नों का उत्तर मांगता है।

(१) जीव अनादि काल से बद्ध ही चला आ रहा है या बीच मे कभी मुक्त भी हुआ है।

(२) जीव जितने अनादि काल से चले आ रहे हैं उतने ही रहते हैं या उनमें कुछ न्यूनता अथवा अधिकता भी होती रहती है।

(३) मुक्ति किन्हीं विशेष कर्मों का फल है या बिना कर्मों के स्वय ही हो जाती है।

(४) जीव मोक्ष में आनन्द का उपयोग करता है, यह आनन्द

इसका अपना धर्म है या कि वह उसे किसी अन्य के सम्बन्ध से मिलता है। ये चार प्रश्न हैं जिनका उत्तर मिल जाने पर मोक्ष के विषय को भली भांति समझा जा सकता है। इन प्रश्नों पर हम यहां क्रम से विचार करने की चेष्टा करेंगे।

(१) यदि जीव किसी काल विशेष में बन्धन में आया हो, और उससे प्रथम वह मुक्त रहा हो तो यह माना जा सक्ता है कि उसके बन्धन मे कोई निमित्त है। और उस निमित्त को उसके विरोधी साधनों के हटा देने पर वह मुक्त हो जावेगा। परन्तु यदि यह बन्धन अनादि काल से ही जीव के साथ लिपटा हुआ हो, कभी भी न जीव इससे पृथक हुआ हो और न यह जीव से, तो फिर ऐसी अवस्था में इसे जीव का स्वाभाविक धर्म मानना पड़ जावेगा, अब न यह जीव से पृथक् हो सकेगा और न जीव इससे यह दार्शनिकों का न्याय है कि "अनादि भाव का नाश नहीं होता" इस न्याय के अनुसार अनादि भाव होने से इस बन्धन का भी नाश न हो सकेगा। अत विवश यह मानना पड़ेगा कि बन्धन जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं, नैमित्तिक है, और इसी लिये वह अनादि नहीं सादि है। और यदि वह सादि है तो इस अनादि काल में कितनी ही बार जीव को उसने बाधा होगा और जीव ने उस से छुटकारा पाया होगा। इस बन्धन का जीव के साथ सम्बन्ध ही ससार और जीव से इसका वियोग ही मुक्ति है। अत इस अनादि ससार में जीव बार २ बन्धन में आता और उससे छूटता रहता है। जब वह बन्धन मे आता है तब विपरीत कर्म निमित्त बनते हैं और जब छूटता है तब अनुकूल कर्म। इस प्रकार जीव अनादि है और उसका बन्धन प्रवाह से अनादि, वह बन्धन मे सम्बन्ध भी करता रहता है और उससे वियुक्त भी हो जाता है।

२—जीव को जैन आगम में भी नित्य माना गया है और अनादि वेद भी उसे नित्य ही मानते हैं। और जब कि जीव नित्य है तो उसका अनादि और अविनाशी मानना आवश्यक है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि न नया जीव उत्पन्न होकर इस

अनादि जीवों की सख्या को बढा सका है और न इनमें से किसी का नाश होकर इन की सख्या घट सकी है। ऐसी अवस्था मे जीव की तरह ही इस ससार को भी अनादि और अनन्त मानना पडेगा। क्योंकि जीवों के कर्मो का भोग देने के लिये प्रकृति के अनेक रूपों का विकास ही यह ससार है। अत जब जीव अनादि अनन्त है तो उसके भोग साधन इस ससार को भी विवश अनादि अनन्त मानना पडेगा। यह दूसरी बात है कि यह अपनी भोगदान शक्ति के निर्बल हो जाने पर उसे प्राप्त करने के लिये कभी सूक्ष्म रूप मे चला जाता है जिसे कि प्रलय कहते है और फिर प्रभु की कृपा से अपना स्थूल रूप धारण कर लेता है जिसे कि ससार कहते हैं। इस प्रकार यह ससार प्रवाह मे अनादि सिद्ध होता है।

हम यह कह आये है कि नित्य होने मे जीवों की सख्या नियत है न इनमे से कोई कम किया जा सका है और न अधिक। यह ठीक है कि विनाश होने के कारण इनकी सख्या मे कमी नहीं होती, परन्तु इस न्यूनता को जन्म देने वाला भी एक साधन अवश्य है और वह साधन है मोक्ष।

जीव अनादि काल से मुक्त होते चले आ रहे हैं, उनकी सख्या घट रही है, और इस घटती का क्रम चल रहा है अनादि काल से। ऐसी अवस्था में अनादि से चले हुए इस क्रम के फल स्वरूप आज तक जीवों के न रहने से ससार का उच्छेद हो जाना चाहिये था परन्तु ऐसा है नहीं, अत मानना पडेगा कि जीव अनादि काल से मुक्त होते चले आ रहे हैं परन्तु जिनकी मुक्ति का समय परान्त काल समाप्त हो जाने पर वे फिर ससार में आ जाते है और इसी लिये ससार का उच्छेद नहीं होता।

३—मुक्ति या जन्म परम्परा सब ही कार्यो के फल है। कर्म ही से अन्त करण मे ऐसे सस्कार उत्पन्न हो जाते है जिन से प्रेरित होकर मनुष्य घृणित कार्यो में प्रवृत्त हो जाता है जिनका कि फल प्रभु की प्रेरणा से उसे दु ख मिलता है। और कर्मो से ही ऐसे उत्तम संस्कार भी उत्पन्न हो जाते हैं जिनका कि फल मनुष्य

को सुख के रूप में मिलता है। ये ही संस्कार मनुष्य के निकृष्ट या उत्तम जन्म की प्राप्ति में निमित्त बनते हैं। कर्मों की एक तीसरी प्रणाली और भी है। वह न तो उत्तम और न निकृष्ट संस्कारों को ही उत्पन्न करती है। उसका काम होता है भले या बुरे दोनों प्रकार के संस्कारों का उच्छेद करना। कर्मों की इसी शृङ्खला को निवृत्ति मार्ग वैराग्य या योग कहते हैं। इस कर्मधारा से सम्पूर्ण संस्कारों का जो कि जीव को प्रवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले हैं उच्छेद हो जाता है तो फिर आत्मा न कर्म करने के लिये प्रवृत्त होता है और न कर्म कर सकता है। और ऐसी अवस्था में भगवान उसे जन्म मरण के बन्धन से निकाल कर परान्त काल तक के लिये मोक्ष का आनन्द दे देते हैं। जिन कर्मों से मनुष्य के संस्कारों का उच्छेद हुआ है उनकी यद्यपि है तो चिर काल की परम्परा परन्तु है तो फिर भी वे सीमित ही। अतः किसी परिधि में सीमित उन कर्मों का फल मुक्ति भी सीमित ही होना चाहिये, अनन्त काल के लिये नहीं। और वह सीमा है परान्त काल। इस परान्त काल की परिभाषा को भी यहां पाठकों के सुभीते के लिये स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दो हजार चतुर्युगियों का एक दिन रात होता है, ऐसे तीस दिन रात का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, और ऐसे सौ वर्षों का एक परान्त काल होता है। यह परान्त काल ही मुक्ति के आनन्द भोग का सीमित काल है। इस मोक्ष सुख को भोग लेने के बाद आत्मा को फिर संसार में आना पड़ता है।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि मनुष्य के कर्म तो मोक्ष प्राप्ति के समय निर्मूल हो चुके थे फिर आत्मा को संसार में भेजा गया किस आधार पर। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये देखिये हमें कर्म शृङ्खला की एक और व्यवस्था की ओर ध्यान देना होगा। कर्म तीन प्रकार के हैं, सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। जो कर्म मनुष्य करता है उनके संस्कार तो उसके अन्तःकरण पर अंकित हो जाते

हैं। और वे कर्म शुभ या अशुभ जैसी भावना से किये जाते है और उनका जो फल होना चाहिये यह सब भगवान् के ज्ञान मे सञ्चित रहता है। अन्त करण में पडे हुए सस्कार मनुष्य को आगे कर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं, और भगवान् के ज्ञान मे सञ्चित कर्म भावनाए मनुष्य के जन्म तथा सुख दु खादि फलों को प्राप्त कराती हैं।

मनुष्य के ये कर्म भगवान् के ज्ञान मे चिरकाल से सञ्चित हो रहे हैं। और जब मनुष्य को जन्म मिलता है इन कर्मों में से जिनके भोगने की बारी होती है, वे उस दिये जाने वाले जन्म के लिये निश्चत कर दिये जाते हैं। इन एक जन्म में भोगने के लिये निश्चित किये गये कर्मों का नाम ही प्रारब्ध कर्म है। इस जन्म के किये गये कर्म सञ्चित कर्मों में चले जावेगे और प्रारब्ध कर्मो के फल का भोग इस जन्म मे होगा। मनुष्य जिस समय उस अन्तिम शरीर में आया है जहा से कि वह मोक्ष लाभ करेगा उस समय भी वह इस शरीर मे भोगने के लिये कुछ प्रारब्ध कर्म अपने सञ्चित कर्मों में से लेकर आया है। इनके अतिरिक्त और भी इसके सञ्चित कर्म भगवान् के ज्ञान मे अनेक पडे हुए है।

इससे पहिले भी यह जन्म जन्मान्तर से इस प्रकार के कर्म करता चला आ रहा था परन्तु इस जन्म मे आकर इसने वह अन्तिम यत्न कर दिया है जिससे कि उसे कर्म करने मे प्रवृत्त करने वाले अत करण मे पड़े हुए कर्म जन्म सस्कारों का सर्वनाश हो गया है। अब जो इसके सञ्चित कर्म भगवान् के ज्ञान मे पड़े हुए हैं उनमें से कुछ को प्रारब्ध कर्म बना कर किसी योनि में इसे भेजा नहीं जा सकता। क्योंकि किसी भी योनि का सारा कार्य क्रम कर्म किये विना चल नहीं सकता, और कर्म करने में साधन अन्त करण के सब सस्कार निर्मूल हो चुके हैं। अब तो इसे इसके कर्मों का भोग कुछ ऐसा ही मिलना चाहिये जहा इसे कर्म न करने पडे। और वह फल है मोक्ष। अत भगवान् अब इसे जन्म जन्मा-

न्तर से निरन्तर किये गये मोक्ष के अनुकूल कर्मों का फल देने के लिये जन्म-मरण के बन्धन से छुडा कर अपने आत्मानन्द महासागर में आनन्द भोग के लिये छोड देते हैं। और मोक्ष की अवधि परान्तकाल समाप्त हो जाने पर, उसके सञ्चित कर्मों में से प्रारब्ध कर्म देकर, उस उनके अनुकूल ही जन्म और उनके अनुकूल ही अन्त करण में संस्कार देकर संसार में भेज देते हैं। और फिर वह ही पहिली सांसारिक प्रक्रिया चल पड़ती है। अत यह प्रसिद्ध है कि मुक्ति या जन्म सब ही कर्मों के फल हैं। और जिस प्रकार प्रारब्ध कर्म समाप्त होने पर जन्म का उच्छेद हो जाता है इसी प्रकार मुक्ति के अनुकूल कर्मों का भोग समाप्त हो जाने पर मुक्ति का भी उच्छेद हो जाता है, और मनुष्य फिर संसार में आ जाता है।

जो लोग मुक्ति मे पुनरावृत्ति नहीं मानते उनके पास "जीवों के मुक्त हो जाने पर संसार का उच्छेद क्यों नहीं हो जाता ?" इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। जीव असंख्य हैं इतना कह देना पर्याप्त नहीं हो सकता। क्योंकि संसार मे इस समय जितने जीव हैं वह संख्या ही उनकी नियत संख्या है। और इस नियत संख्या के लिये अनादि काल भी कोई थोडा काल नहीं है। अत. जीवों के समाप्त हो जाने पर संसार का उच्छेद हो जाना चाहिये। परन्तु यह उच्छेद होता नहीं अत मुक्ति से पुनरावृत्ति मानना आवश्यक है।

(४) मोक्ष के विषय को समझने के लिये चौथा प्रश्न यह है कि जीवात्मा को जो आनन्द मुक्ति में मिलता है वह उसका अपना है या किसी और का। इस मुक्ति के आनन्द को यदि आत्मा का ही धर्म मान लिया जावे तो कई उलझनों में फस जावेंगे जिनका कि सुलझाना कठिन होगा। इस विषय को हम प्रश्नोत्तर के रूप में पाठकों के सामने रखने का यत्न करेंगे।

(प्र०) यदि आनन्द आत्मा का ही धर्म है तो उसे संसार दशा में उसका अनुभव क्यों नहीं होता।

(उ०) अनेक कर्मों से पैदा हुए संस्कारों की अविद्या में फँसा हुआ जीव उसका अनुभव नहीं कर सकता।

(प्र०) आनन्द उसका अपना स्वभाव है, और अविद्या या संस्कार बाहर की चीज हैं। इसलिये बाहर के पदार्थ आत्मा से उसके अपने स्वभाव को नहीं छिपा सके।

(उ०) अग्नि का अपना स्वभाव प्रकाश करना और गर्मी देना है। लकड़ी में भी वह ही आग विद्यमान है। परन्तु लकड़ी के परमाणुओं ने उसे इतना छिपा दिया है कि न वह प्रकाश दे सकी न गर्मी। ठीक इसी प्रकार आत्मा का आनन्द गुण भी उन संस्कारों के पर्दे में छिप गया है।

(प्र०) आप का यह कहना ठीक है, परन्तु लकड़ी के परमाणुओं ने आग के गुण प्रकाश और गर्मी को दूसरों से छिपाया है न कि आग से। कोई भी शक्ति किसी के स्वाभाविक धर्म को उस धर्मी से नहीं छिपा सकती। उदाहरण के लिये राख के ढेर में दबी हुई एक चिनगारी को ही ले लीजिये। उस ढेर में दबी हुई इस चिनगारी की गर्मी और प्रकाश को यद्यपि हम नहीं देख रहे, परन्तु अग्नि यदि ज्ञानवान् तत्व हो तो वह अपनी गर्मी को राख के ढेर मे दबा हुआ भी अनुभव करेगा। यह ही दशा लकड़ी वाली अग्नि की भी है। इस लिये आत्मा चाहे कितनी ही अविद्या से क्यों न घिरा रहे, यदि आनन्द उसका स्वाभाविक धर्म है तो उसका अनुभव उसे संसार दशा में भी होना चाहिये परन्तु ऐसा है नहीं, इस लिये आनन्द आत्मा का अपना स्वाभाविक धर्म नहीं है।

प्र०—अब उत्तरदाता स्वयं प्रश्न करता है कि यदि आनन्द आत्मा का धर्म नहीं तो वह मुक्ति के समय उसे कहां से मिलता है।

उ०—संसार में तीन शक्तियें काम कर रही हैं। एक प्रकृति, दूसरा जीव और ब्रह्म। प्रकृति में सत्ता है परन्तु उसमें चैतन्य नहीं। जीव में सत्ता और चैतन्य हैं परन्तु उसमें आनन्द नहीं। और ब्रह्म में सत्ता चैतन्य और आनन्द तीनों हैं। परिणामशील प्रकृति के

प्रभाव में आकर जीव को क्षणिक सुख के साथ २ कई प्रकार के दुःख भी भोगने पड़ते हैं। और उसके प्रभाव से निकल कर, नित्य एक रस, आनंद स्वरूप भगवान् के प्रभाव में आकर वह आनंद को भोगता है। वह क्षणिक सुख प्रकृति के संसर्ग से मिला था और यह स्थिर आनंद ब्रह्म के संबंध से मिला है।

प्र०—ब्रह्म तो संसार दशा में भी जीव के पास था उस समय उसे उसका आनंद क्यों नहीं प्राप्त हो रहा था।

उ०—यह ठीक है कि संसार दशा में भी ब्रह्म जीव के पास था। परंतु उस समय अविद्या का आवरण होने के कारण जीव उसका अनुभव नहीं कर रहा था। अब मोक्ष दशा मे आवरण हट जाने से जीव उसका अनुभव कर रहा है।

पाठक समझ गए होंगे कि जीव को ब्रह्मानंद की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। और उसे वह आनंद किन्हीं विशेष कर्मों के फल के रूप में मिला है। और इस फल की निश्चित अवधि परान्तकाल है। इसके बाद उसे अपने संचित कर्मों का फल भोगने के लिये फिर संसार में आना पड़ेगा।

अब हम जैनी भाइयों से पूछते हैं कि आपके मत के अनुसार जीव को मुक्ति में आनन्द कहां से मिला। यदि वह उसका अपना धर्म है तो उसका अनुभव उसे संसार दशा में क्यों नहीं होता। और यदि अपना धर्म नहीं तो वह उसे मिला कहां से। यदि कहें कि तीर्थंकरों से, तो यह भी ठीक नहीं। क्यों कि प्रथम तो वे एकदेशीय हैं व्यापक नहीं। अतः संसर्ग न होने से उनका आनन्द दूसरे को मिल नहीं सकता। और दूसरी बात यह है कि वे भी संसार अवस्था से मुक्त अवस्था में गये हैं अतः फिर भी यह ही प्रश्न होगा कि उन्हें यह आनन्द कहां से मिला। "निरंजन परम साम्य-मुपैति" इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट है कि जीव रागादि दोषों से रहित होकर अशांत परमात्मा की समता को पा लेता है। तात्पर्य है कि

जीव रागादि दोषों से रहित होकर प्रभु के आनन्द का भागी बन जाता है। जैसे कि अन्यत्र उपनिषद् में कहा है 'आनन्द ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति" वह उस आनन्द स्वरूप भगवान् को पाकर आनन्द युक्त हो जाता है। ऊपर के उपनिषद् वाक्य मे मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध कहीं नहीं किया गया।

भूमिका में ऋषि दयानन्द ने जो 'सदा के लिये" शब्द लिखा है उसका भी भाव परान्तकाल के लम्बे काल को प्रकट करने का ही है। क्यों कि उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास मे परान्तकाल के बाद मुक्ति से लौटने की व्यवस्था दी है। उसी स्थान पर उन्होंने मुण्डक उपनिषद् का यह प्रमाण भी दिया है। "ते ब्रह्म लोके ह परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" वे मुक्त जीव जो कि ब्रह्मलोक (जो कि सर्वत्र विद्यमान है) मे है, वे परान्तकाल बीत जाने पर, परम अमृत=मोक्ष से अलग हो जाते है।

६८—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४८६ में "जैनियों के मुक्ति का स्थान सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा के ऊपर पैंतालीस लाख योजन की शिला अर्थात् चाहे जैसी अच्छी और निर्मल हो तथापि उसमे रहने वाले मुक्त जीव एक प्रकार के बद्ध हैं। क्योंकि उस शिला से बाहर निकलने में मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे और जो भीतर रहते होंगे तो उनको वायु भी न लगती होगी इत्यादि।" सो जैनी लोग तो कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। शिला पर बैठने को नहीं। और जब कि शिला पर बैठने को मुक्ति नहीं मानते तब मुक्ति के सुख से क्योंकर छूट सकते हैं? और स्वामी जी मुक्ति को स्थान विशेष नहीं मानते क्योंकि (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष) यजुर्वेद ३१ ४ ईश्वर के तीन अश उड कर जो ऊपर अधर जा लटकते हैं उसी को मुक्ति मानते हैं परन्तु उस समय आकाश के न होने से ईश्वर का मुक्ति का कथन सर्वथा ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अब आप बतलावे कि मुक्ति विषय में भ्रम आपको है या जैनों को? जरा प्रमाण सहित लिखिये।

६८—"जादू वह जो शिर चढ बोले" अब आप भी सिद्धशिला से इन्कार करने लगे हैं और कर्म बन्धन से छूटने मात्र को मुक्ति कहने लगे हैं। परन्तु श्रीमान् जी ? यह सिद्धशिला ऋषि दयानन्द की चीज़ तो नहीं आपके गुरुओं के मस्तिष्क का ही आविष्कार है इससे इन्कार क्यों करते हैं। अपने प्र० सा० भाग ४ स० सू० २५८ को पढिये।

"पणया ललरक योपण विरक सा सिद्धिशिलफलिह विमला। तदुपरि गजोयणन्ते लोअन्तो तच्छ सिद्धिठई।"

सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर बारह योजन सिद्ध शिला है। वह मोटेपन और लम्बाई में पैंतालीस लाख योजन प्रमाण वाली है। यह श्वेत स्फटिक के समान निर्मल सिद्धभूमि है। इसे कोई ईषत्प्राग्भरा भी कहते है। (उस शिला के ऊपर एक योजन के अन्तर पर लोकान्त है)। वहा सिद्धों की स्थिति है। इस प्रकार यह सिद्धशिला आपकी चीज है हमारी नहीं इससे इन्कार न कीजिये। "त्रिपादूर्ध्व उदैत्" की व्याख्या प्रश्न ८ के उत्तर में पढिये।

(जैनमति)
६९—सत्यार्थ प्रकाश छठी बार पृष्ठ ३०३ मे लिखा है कि "दो जैन मुनि ऊपर से कथनमात्र वेदमत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपट मुनि थे। शंकराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि क्षुधा मन्द होगई। पश्चात् शरीर में फोड़े फुंसी होकर छ महीने के भीतर शरीर छूट गया।" इत्यादि। इस लेख में दो जैन मुनियों को कपटी और शंकराचार्य को विष देने का दोष लगाया है। परन्तु प्रथमवार सत्यार्थ पृष्ठ ३१४ में लिखा है कि शंकराचार्य और सुधन्वादिक राजा तथा आर्यावर्तवासी श्रेष्ठ लोगों ने विचार किया कि विद्या का प्रचार अवश्य करना चाहिये। वे विचार ही करते रहे कि इतने में तीस बत्तीस वर्ष की उम्र में शंकराचार्य का शरीर छूट गया। अब इस प्रथमवार के सत्यार्थ प्रकाश में दो जैन मुनियो का शंकराचार्य को विष का देना कहीं नही लिखा और न अन्य किसी वैदिक

ऋषि ने अपने ग्रन्थ में वैसा लिखा है तब इस सत्यार्थ प्रकाश के लेख को क्योंकर सत्य समझते हैं तो प्रमाण सहित लिखिये ?

९९—प्रथम वार के सत्यार्थ प्रकाश मे केवल श्री शंकराचार्य जो की मृत्यु का ही उल्लेख किया है, बाद में उन्हें कहीं उस घटना का ऐतिहासिक प्रमाण भी मिल गया होगा अत मृत्यु का कारण भी लिख दिया। इन दोनों लेखों में परस्पर विरोध कहा है। रहा किसी और वैदिक मुनि का इसे प्रकट न करना, इसमे भी कारण किसी और की दृष्टि में इस ऐतिहासिक प्रमाण का न आना ही रहा होगा। तीर्थंकर पर आक्षेप

१००—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४७१ में लिखा है कि "भला कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारे कि इनके साधु गृहस्थ और तीर्थंकर जिन में बहुत से वेश्यागामी, परस्त्रीगामी, चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये" इत्यादि। सो यह लेख भी केवल द्वेष बुद्धि से लिखा गया है क्योंकि साधु व गृहस्थ और तीर्थंकर को वेश्यागामी, और चोर आप किसी भी जैनग्रन्थ के आधार से नहीं बता सकते आप के जो ऐसे भाव हुए है उनका मूल कारण केवल वेद ही है। क्योंकि उन वेदों में ही सम्राट् पुत्र के लिये स्त्री को घोड़े के पास सोना, असेव्यसेवन, यज्ञ मे पशुओं को मार कर स्वर्ग में पहुचाना और शेष मास का भक्षण करना आदि शिक्षा लिखी है। अब आप बतलावें कि तीर्थंकर व साधुओं को आप वेश्यागामी आदि किस प्रकार सिद्ध करते हैं। जरा प्रमाण सहित लिखिये ?

१००—जिन मन्त्रों में आप घोड़ और यजमान-पत्नी का वर्णन कहते हैं, और जिनमें असेव्य सेवन का विधान आपको दृष्टिगोचर होता है उन सब की व्याख्या हम आपके पहिले प्रश्नों क उत्तर में कर आये हैं। वेदों मे तो सर्वत्र सदाचार, विज्ञान, और भूतदया का ही वर्णन किया गया है।। हमारी यह धारणा वेदों को पढ़ कर नहीं बनी प्रत्युत आप के ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वह ही अक्षरश उद्धृत कर दिया है। प्रमाण पढ़िये (विवेक सार

पृष्ठ २२८) एक जैन मत साधु कोशा-वेश्या के साथ भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग लोक को गया।

(विवेक सार पृष्ठ १०) अर्णक मुनि चारित्र से चूक कर कई वर्ष तक दत्तक सेठ के घर में विषय भोग करके पश्चात् देव लोक को गया।

भला, कहिये है न आप के घर की बात ? दत्त सेठ ने उस मुनि को क्यों नहीं रोका इसके लिये आगे उपदेश पढ़िये। (विवेकसार पृष्ठ १५६) जैन मत का साधु लिङ्गधारी अर्थात् केवल मात्र वेशधारी हो तब भी उसका सत्कार श्रावक लोग करें। चाहे साधु शुद्ध चरित्र हो चाहे अशुद्ध चरित्र सब पूजनीय हैं। (विवेक सार पृष्ठ १७१) श्रावक लोग जैन मत के साधु को चरित्र रहित भ्रष्टाचारी भी देखें तो भी उनकी सेवा करनी चाहिये। भला इन उपदेशों के रहते हुए दत्त सेठ मुनि की पूजा से इन्कार कैसे कर सक्ता था। कहिये कैसे सुन्दर उपदेश हैं और कितने ऊंचे आचार हैं।

१०१—फिर फुट नोट में लिखा है "कि जो उत्तम जन होगा वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा।" इत्यादि। सो जैनधर्म को असार बतलाना केवल द्वेषबुद्धि का ही परिचय देता है क्योंकि जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो जीवमात्र की रक्षा अर्थात् अहिंसा धर्म का पूर्णरूप से प्रतिपादन करने वाला है। यदि आप जैनधर्म को असार धर्म बतलाते हैं तो सारधर्म कौनसा है जरा प्रमाण सहित लिखिये ?

१०१—असार उपदेशों की तो कमी नहीं, हम यहां दो चार ही उदाहरण के रूप में दिखला देते हैं। (श्राद्ध दिन कृत्य आत्म-निन्दा भावना पृष्ठ ३१) बावड़ी, कूआ और तालाब न बनवाने चाहिये। कहिये इस उपदेश में क्या सार है। ज्येष्ठ के महीने में किसी लम्बी यात्रा जाने वाले प्यासे मनुष्यों के लिये बावड़ी और कूप तथा पशुओं के लिये तालाब न बनवाये गये हों तो बेचारे प्यास के मारे तड़प कर ही मर जावें। और यदि कहें कि जैनी

न बनवाए और मतवाले बनवा दे। तो बतलाइये जैनी और उनके पशु उनमें पानी पीएंगे या नहीं। और यदि पीएंगे तो कहिये उनके बनने में और लोगों की तरह ही जैनी भी कारण हुए या नहीं। और यदि हुए तो उनके बनाने मे यदि पाप है तो जैनियों को भी लगा या नहीं। कैसी निःसार बात है।

किसी जैनी ने एक बावडी बनवा दी थी तो देखिये उसकी क्या दशा हुई। (तत्त्व विवेक पृष्ठ १६६) इस नगरी में नन्द मणिकार सेठ ने एक बावडी बनवाई। उससे वह धर्म भ्रष्ट होकर १६ महा रोग हुए। वह मर कर उसी बावड़ी में मेंढक हुआ। महावीर के दर्शन से उसे पूर्व जाति याद आ गई। महावीर कहते हैं कि मेरा आना सुन पूर्व जन्म के आचार्य जान वह मेरी वन्दना को आने लगा। कहिये क्या ये सार गर्भित बाते हैं। आप के महावीर स्वामी तो सिद्ध शिला के उस पार मुक्ति धाम मे बैठे हैं नियमानुसार वहा से आ ही नहीं सके कहिये यहा कैसे आ गये। (तत्त्व विवेक पृष्ठ २०२) एक दिन लब्धि साधु भूल से वेश्या के घर मे चला गया। और धर्म से भिक्षा मांगी। वेश्या ने कहा कि यहा धर्म का काम नहीं अर्थ का काम है तो उस साधु ने साढे बारह लाख अशर्फियें उस वेश्या के घर में बरसा दीं। प्रथम तो इतनी अशर्फियों का एक साधुओं द्वारा बरसाया जाना असम्भव। और फिर एक व्यभिचारिणी को इतना धन दे देना कहा का धर्म है क्या ये सार गर्भित बाते हैं। (रत्नासार भाग पृष्ठ ६७) एक पाषाण की मूर्ति घोडे पर चढ़ी हुई उसका जहा स्मरण करे रक्षा करती है। भला पत्थर की मूर्ति भी किसी ने कहीं रक्षा करती हुई देखी है ?। क्या ये सारगर्भित बाते हैं ?।

१०२—सत्यार्थ प्रकाश ४६६ में लिखा है कि "इस णमोकार मन्त्र का बड़ा माहात्म्य लिखा है और यह सब जैनियों का गुरु मन्त्र है इसका ऐसा माहात्म्य धरा है कि तन्त्र पुराण और भाटों की कथा को पराजय कर दिया है" इत्यादि।

सो निराकार व साकार ईश्वर और वीतरागी साधुओं के

मन्त्र को आपने नव पुराण और भाटों की कथा से भी विशेष बतलाया है। परन्तु मन्त्र के अनुसार सविता अर्थात् सूर्य के अधिष्ठात्री ज्योतिषी देव को ईश्वर मानना तथा बुद्धि का प्रेरक और जगत का कर्ता बतलाना भी वैसा ही है जैसा कि मचान पर बैठ कर खितहड़ । अब आप बतलावे कि भाटों की कथा को पराजय करने वाला कौनसा मन्त्र है। यदि णमोकार मन्त्र है तो प्रमाण सहित लिखिये ?

१०२—आप जरा आंखे खोल कर पढ़ा करें। इस प्रश्न के आरम्भ में लिखी गई अपनी ही चार पंक्तियों को ध्यान से पढ़ें और फिर देखे कि ऋषि दयानन्द ने आप के णमोकार मन्त्र को भाटों की कथा लिखा है या उसके माहात्म्य को। जैन महापुरुषों को नमस्कार करना इस मन्त्र का अर्थ है। भला इस भाव को कोई बुरा क्यों कहेगा। जिस प्रकार भाट किसी के थोड़े गुणों को भी बढा २ कर आकाश पर चढ़ा दिया करते हैं ऐसा इस मन्त्र का माहात्म्य लिखने वालों ने भी किया है, यह तात्पर्य महर्षि के लेख का है। इस मन्त्र के माहात्म्य की पंक्तियें नीचे पढ़िये।

(श्राद्ध दिन कृत्य पृ०) पीड़ित संसारी जीवों को णमोकार मन्त्र ऐसा है कि जैसी समुद्र पार उतारने की नौका। जो इसको छोड़ देते हैं वे भवसागर में डूबते हैं। जो इसका ग्रहण करते हैं वे भवसागर से तर जाते हैं। पापों का नाशक मुक्ति कारक इस मन्त्र के बिना दूसरा कोई नहीं। और अग्नि प्रमुख अष्ट महाभयों में सहायक एक णमोकार मन्त्र को छोड़ कर दूसरा कोई नहीं। इस प्रकार इस मन्त्र का बहुत लम्बा चौड़ा माहात्म्य लिखा है। यदि यह मन्त्र इस लोक और परलोक के सब कार्यों का साधक है तो फिर यम नियम और तप योग आदि की क्या आवश्यकता। इस इतनी प्रशंसा की निन्दा ऋषि ने इसलिये की है कि लोग णमोकार मन्त्र की दीक्षा ले लेने मात्र को ही मुक्ति का द्वार समझ कर यम, नियम, तप, योग आदि को छोड मोक्ष सुख से वञ्चित न रह जावें।

गायत्री मन्त्र में सूर्य की उपासना नहीं है। इस मन्त्र में सविता शब्द संसार को उत्पन्न करने वाले भगवान् के लिये आया है। और उसी के शुभ गुणों के ध्यान करने का इसमें उपदेश दिया गया है। और इसका फल भी इसी मन्त्र में बतलाया है—बुद्धि का सन्मार्ग पर लग जाना। भगवान् के अनेक शुभ गुण हैं और उनको धारण करने वाला मनुष्य अवश्य शुभ मार्ग पर लग ही जावेगा। इस प्रकार यह मन्त्र आपके मन्त्र से कहीं अधिक विस्तृत शुभ भावों को प्रकट करता है। परन्तु फिर भी इसका फल दिखलाते हुए बुद्धि का सन्मार्ग पर लगना ही लिखा है आपकी तरह लोक और परलोक दोनों मुट्ठी मे नहीं दे दिये। बुद्धि के सन्मार्ग में लग जाने पर यम, नियम, तप आदि के द्वारा मनुष्य मोक्ष लाभ भी कर ही सकेगा। यहां पर ऋषि ने सच्ची और आपके हित की बात लिखी है। इसे पढ़ कर आपको चिढ़ न जाना चाहिये था।

१०३—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४३७ में लिखा है कि—(सर्वज्ञ सुगतो बुद्धोधर्मराजस्तथागत। समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिन) अर्थात् जिन जिससे जैन निकला और बुद्ध जिससे बौद्ध निकला दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं इत्यादि। सो बुद्ध व जिन दोनों ही शब्द पर्यायवाची होने से जैन लोग बौद्धमत की शाखा सिद्ध होते हैं।" यदि ऐसा ही आपका न्याय है तो आर्य समाजी विद्वान् भी ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं और सर्वज्ञ व बुद्ध दोनों ही शब्द पर्यायवाची होने से आप भी बौद्धों की शाखा ही सिद्ध होते हैं। अब बतलावें कि आप ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं या नहीं? यदि नहीं तो लिखिये।

१०३—जैन और बौद्ध दोनों ही असर्वज्ञ को सर्वज्ञ मानते हैं क्योंकि जिन और बुद्ध दोनों ही एक देशी होने से सर्वज्ञ नहीं हो सकते। और ~~हम~~ सर्वज्ञ को ही सर्वज्ञ मानते हैं क्योंकि भगवान् सर्व व्यापक होने से सर्वज्ञ हैं। इसलिये आप बौद्धों की शाखा

हो सकते हैं, हम नहीं। ऋषि ने कोष के प्रमाण से बुद्ध और जिन को पर्याय कहा है। अब इसका निर्णय करने के लिये आप कोषकार के पास जाइये उनका इसमें क्या अपराध।

१०४—द्वादशवें समुल्लास की भूमिका में लिखा है कि "वाल्मीकीय रामायण और महाभारतादि में जैनियों का नाम मात्र भी नहीं है इसलिय जैनमत इन ग्रन्थों के पीछे चला है। इत्यादि।

सो यह लेख भी द्वेष बुद्धि स लिखा गया है। और आर्य समाजी विद्वानों की अनभिज्ञता को भी सिद्ध करता है क्योंकि यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र १६ में अरिष्टनेमि बाइसवे अवतार का नाम और वेदान्त दर्शन तथा महाभारत में सप्तभङ्गी न्याय का कथन उपस्थित है। अब आप बतलावे कि जैनधर्म उक्त ग्रन्थों के पश्चात् चला इस दावे को आप किस प्रकार सिद्ध करते हैं लिखिये?

नोट—(स्वामी दयानन्द जी ने यजुर्वेद अध्याय २५ मन्त्र १६ का 'ईश्वरो देवता' लिखा है सो उस देवता की सिद्धि में कोई प्रमाण न होने से मिथ्या है। और जबकि मन्त्र का देवता ही मिथ्या है तब उसके आधार से होने वाला मन्त्रार्थ भी मिथ्या है।) और वेदान्त दर्शन द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद सूत्र ३३ के भाष्य में सप्तभङ्गी का कथन उपस्थित है। तथा महाभारत शांति पर्व अध्याय २३८ श्लोक ६ पर नीलकण्ठी टीका पढ़ो उसमें सप्तभङ्गी का कथन मौजूद है।

१०४—(धन्य हो महाराज? सृष्टि के आरम्भ में आये हुए यजुर्वेद में भी आपको कल के पैदा हुए अरिष्टनेमि दिखाई देने लगे)। (इस मन्त्र में इन्द्र, पूषा और बृहस्पति भी हैं क्या वे भी आपके ही तीर्थङ्कर हैं?) खूब दूर की सूझी। विष्णुमित्र के पिता महावीर को स्वर्गवास हुए अभी १५ साल ही बीते हैं। आपके इस रवये को देखकर तो वह भी कल कह उठेगा कि जैनियों के ग्रन्थों मे मेरे पिता का नाम आता है अत: वे मेरे पिता के बाद बने हैं। जिस मन्त्र में आप अपने तीर्थङ्कर का नाम बतला रहे हैं वह यह है।

"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा । स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु"। अर्थ— (इन्द्र) सब ऐश्वर्यो का स्वामी, (वृद्धश्रवा) विशाल श्रवण शक्ति वाला (नः स्वस्ति) हमारा कल्याण करे। (तार्क्ष्य) सर्वत्र पहुँचा हुआ, (अरिष्टनेमि) सुख को प्राप्त कराने वाला, (न स्वस्ति) हमारा कल्याण करे। बृहस्पति सब बडों का स्वामी, भगवान् (न स्वस्ति) हमारा कल्याण करे॥

इस मन्त्र में जिस प्रकार और छ पद भगवान् के विशेषण हैं इसी प्रकार यह सातवा अरिष्टनेमि पद भी भगवान का विशेषण है, आपके तीर्थङ्कर का नाम नहीं।

इस मन्त्र का देवता ईश्वर ही है। और इसमें प्रमाण है (यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्य मिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवत. स मन्त्रो भवति) देवता निर्णय के लिये निश्चित किया हुआ निरुक्तकार का यह न्याय। (इसका भाव है कि मन्त्र द्रष्टा ऋषि मन्त्रार्थ में जिस अर्थ के प्राधान्य की कामना से स्तुति का प्रयोग करता है उस मन्त्र का वह ही देवता है) (इस मन्त्र में आये हुए सब विशेषण ईश्वर के अतिरिक्त और किसी में सङ्गत नहीं होते) इसलिये इस मन्त्र का ईश्वर ही देवता है। अत मन्त्र देवता मिथ्या नहीं, साम्प्रदायिकता के रग से विकृत हुई आपकी यह कल्पना मिथ्या है।

शाङ्कर भाष्य मे और महाभारत की टीका नीलकण्ठी में आप सप्तभगी का उल्लेख बतलाते हैं। परन्तु इससे तो आचार्य शङ्कर और नीलकण्ठ के काल में सप्तभङ्गी की सत्ता सिद्ध होती है। रामायण और महाभारत के काल में नहीं। तब फिर इससे ऋषि दयानन्द का कथन किस प्रकार असत्य सिद्ध हो गया।

आप कहेंगे कि टीकाकारों ने भी मूल ग्रन्थो में आये हुए विषय का ही व्याख्यान किया होगा। अत महाभारत और व्यास के काल में स्याद्वाद का प्रचार सिद्ध होता है। सो यह बात ठीक नहीं। टीकाकारों की यह रीति होती है कि वे अपने समय में

अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध जिन विचारों का प्रचार देखते हैं अपने मूल ग्रन्थ के शब्दार्थ और प्रकरणार्थ का झुकाव वे उसी ओर कर देते है। व्यास सूत्रों में आचार्य शङ्कर ने और महाभारत में आचार्य नीलकण्ठ ने भी ऐसा ही किया है। इन ग्रन्थों के ये दोनों प्रकरण आगे पढ़िये।

व्यास

संशय होता है कि ये संसार के सब पदार्थ भाव रूप में हैं वा अभाव रूप। फिर पूर्व पक्ष होता है कि ये सब अभाव से प्रकट हुए हैं अत अभाव रूप ही होने चाहिये। इसके उत्तर में सूत्र है—(नाभाव उपलब्धेः)। वे० द० अ० २ पा० २ सू० २८।

क्योंकि ये प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं इसलिये अभाव रूप नहीं हो सकते।

प्रश्न होता है कि जिस प्रकार न होते हुए भी पदार्थ स्वप्न में दिखाई दिया करते हैं ऐसे ही ये भी दिखाई देते होंगे। इसका उत्तर है—(वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्) २९।

क्योंकि स्वप्न के और जाग्रत के ज्ञान में अन्तर है इसलिये जाग्रत के पदार्थों को स्वप्न वालों के समान नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि स्वप्न वाले ज्ञान के पदार्थों का जाग्रत ज्ञान से बाध या निषेध सिद्ध हो जाता है जाग्रत वालों का नहीं।

प्रश्न होता है कि जिस प्रकार स्वप्न ज्ञान को संस्कार उत्पन्न करते हैं वस्तुत वहा पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार पदार्थों के न होते हुए भी जाग्रत ज्ञान भी संस्कारों से ही उत्पन्न हो जावेगा। इसके उत्तर में लिखते हैं—(न भावोऽनुपलब्धेः) ३०।

संस्कारों की भी सत्ता ऐसी अवस्था में हो नहीं सकती। क्योंकि विषयों के न होने से उनकी उपलब्धि न होगी। और उपलब्धि न होने से संस्कारों का जन्म नहीं।

और यदि संस्कार अनादि मानोगे तो वे क्षण २ में बदलते देखे जाते है। क्योंकि एक विषय को छोड कर वृत्ति क्षण २ में दूसरे विषय पर जाती है। अत एक संस्कार का तिरोभाव दूसरे

का प्रादुर्भाव होता रहता है और जब कि ये संस्कार ही घटादिरूप में मानते हैं तो घटादि का भी क्षण २ में परिवर्तन होना चाहिये परन्तु ऐसा है नहीं, इसी भाव को प्रकट करने के लिये लिखा गया—(क्षणिकत्वाच्च)। ३१ ।

अर्थात् संस्कारधारा के क्षणिक होने से भावों को भी क्षणिक मानना पड़ जावेगा जोकि प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

और वस्तुत अनादिकाल से भी संस्कारों की सत्ता मानी नहीं जा सकती अत लिखते हैं—(सर्वथानुपपत्तेश्च) ३२ ।

क्योंकि यदि अनादिकाल से संस्कारों की सत्ता मानी जावे तो इनका कभी अभाव ही नहीं हो सकता । क्योंकि अनादिभाव का नाश नहीं होता । ऐसी अवस्था में जीव सर्वदा ही बन्धन रहेगा ।

इस प्रकार विषयों का अभाव किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विषयों के बिना ज्ञान की सिद्धि का कोई भी उपाय नहीं ।

यदि सत्ता और अभाव दोनों धर्म एक ही पदार्थ में मान लिये जावे तो क्या क्षति है, क्योंकि देखने में भी आता है कि उसी मिट्टी में थोडी देर पहिले घट का अभाव था और अब भाव है । इसके उत्तर में कहते हैं—(नैकस्मिन्नसम्भवात्) ३३ ।

एक वस्तु के भी भाव और अभाव दो धर्म नहीं हो सकते । क्योंकि दो विरोधी धर्मों का एक आधार में रहना असम्भव है । मिट्टी में तो जब घट का अभाव था तब अभाव ही था घट न था । और जब घट है तो घट ही है अभाव नहीं है । और यदि देशान्तर में अभाव कहा जावे तो वह देशान्तर विशिष्ट अभाव कहलावेगा एतद्देशविशिष्ट नहीं (एवञ्चात्मा कार्त्स्न्यम्)। ३४ ।

और यदि ऐसा माना गया तो कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में पूर्ण न हो सकेगा=निश्चित न हो सकेगा। सर्वदा अनेक विरोधी धर्मों से आक्रान्त हुआ २ वह अनिश्चित ही बना रहेगा ।

यदि ऐसा कहें कि एक ही वस्तु अनेक रूपों में परिणत होता रहता

है, अत काल भेद से एक रूप का धर्म एक काल में और दूसरे रूप का धर्म दूसरे काल में उसी वस्तु में रहता रहेगा, विरोध कुछ न होगा। इसके उत्तर में लिखते हैं—(न पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः) ३५

एक पर्याय के काल में एक धर्म और दूसरे पर्याय के काल में दूसरा धर्म रहेगा, इसलिए विरोध—नहीं है, यह बात भी नहीं। क्योंकि जब मिट्टी से घट बना है तब वह मिट्टी का पर्याय नहीं विकार है। वह स्वयं एक भाव है और उसमें सत्ता धर्म है। जब वह नहीं था तो उसमें कोई भी धर्म न था। क्योंकि जब धर्मी ही नहीं है तो उसमें किसी धर्म के रहने का विचार कैसा। इसलिये किसी भी भाव विकार में कभी भी अभाव रह ही नहीं सकता। और ये सब विकार भी अन्त में परमाणुरूप में भाव ही रहते हैं इसलिये उपसंहार में लिखते हैं—

(अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः)। ३६।

ये सब भाव अन्त अवस्थित अर्थात भाव ही रहते हैं। और आरम्भ में भी जब ये अणु रूप से स्थूल मे आये हैं भाव ही थे इसलिये दोनों अवस्थाओं में ये भाव हैं इनमें सत्ता का सम्बन्ध नित्य है, अत मध्यकाल में भी अविशेष ही होगा, अर्थात् ये भाव ही रहेंगे। इसलिये भाव तीनों कालों में भाव ही है।

इस प्रकार सूत्रकार ने इस अधिकरण में पदार्थों के अभाव की अपनी ओर से शङ्का उठा कर उसका समाधान किया है। बौद्ध या जैन किन्हीं भी विशेष सिद्धान्तों का कहीं नाम तक भी नहीं लिया। भाष्यकार के समय में क्योंकि बौद्ध और जैन मत प्रचलित हो चुके थे इसलिये भाष्यकार ने इन्हीं सूत्रों का आश्रय लेकर जैन तथा बौद्ध मत का खण्डन कर दिया। अत इससे महर्षि व्यास के समय में जैन और बौद्ध मत की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

महाभारत शान्तिपर्व के २३८ वे अध्याय के छठे श्लोक में तो सप्तभंगी से सम्बन्ध रखने वाली कोई चीज भी नहीं है। हम इस अध्याय के पहिले छहों श्लोक ही यहा उद्धृत किये देते हैं। आप

स्वय देख लीजिये इसमें सप्तभंगीन्याय का खण्डन कहा है।

युधिष्ठिर उवाच। आद्यन्तं सर्वभूताना ज्ञातु मिच्छामि कौरव।
ध्यान कर्म च कालञ्च तथैवायुर्युगे युगे। १।

युधिष्ठिर ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ? मैं प्राणियों के आदि, अन्त, ध्यान, कर्म और काल, तथा युग युग की आयु जानना चाहता हूँ ?

लोकतत्वञ्च कात्स्न्र्येन भूताना मागतिं गतिम्।
सर्गञ्च निधनञ्चैव कुत एतत् प्रवर्तते। २

सम्पूर्ण लोक का सब सार, प्राणियों का आगमन और गमन सृष्टि और प्रलय यह सब किससे चलता है। २

भेदक भेदतत्वञ्च तथान्येषामत तथा।
अवस्था त्रितयञ्चै व यादृशञ्च पितामह। ३

लक्षण, लक्ष्य और अन्यों के मत, तथा तीनों अवस्थाए जिस प्रकार की हैं जानना चाहता हूँ। ३।

यदि तेऽनुग्रहे बुद्धि रस्मास्विह सतावर।
एतद्भवन्त पृच्छामि तद्भवान् प्रब्रवीतुमे। ४

हे सज्जनों में श्रेष्ठ ? यदि आप हमारे ऊपर अनुग्रह करना चाहते हैं। तो यह आप से पूछते हैं उत्तर दीजिये। ४

पूर्वं हि कथित श्रुत्वा भृगुभाषितमुत्तमम्।
भरद्वाजस्य विप्रर्षे स्ततोमे बुद्धिसत्तमा। ५
जाता परमधर्मिष्ठा दिव्य सस्थान सस्थिता।
ततो भूयस्तु पृच्छामि तद्भवान् वक्तु मर्हसि। ६

पहिले महर्षि भरद्वाज के द्वारा भृगु का उत्तम भाषण सुनकर मेरी बुद्धि दिव्य भावनाओं से भूषित और परमधर्म से सम्पन्न हो गई। इसलिये फिर पूछता हूँ उत्तर दीजिये। पाठकों ने पढ लिया होगा और निर्णय कर चुके होंगे कि यहा छठे श्लोक में तो क्या छहों श्लोकों में ही जैन धर्म का वा सप्तभङ्गीन्याय का कहीं नाम तक भी नहीं है। तीसरे श्लोक में युधिष्ठिर ने कहा है कि मैं औरों के मत भी जानना चाहता हूँ। इसके उत्तर में आगे चल कर पितामह

भीष्म ने जहां अन्य मत दिखलाये हैं वहां भी जैन मत का कहीं नाम नहीं आया। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महाभारत के काल में जैन मत नहीं था। टीकाकार नीलकण्ठ के समय में जैन मत चल चुका था इसलिये उन्होंने अन्य मत का आधार लेकर जैन मत की समीक्षा कर दी होगी। अतः सिद्ध है कि व्यास के तथा महाभारत के समय में जैन मत नहीं था। अब पाठक निर्णय करें कि अनभिज्ञता प्रश्न कर्ता की है, या किस की।

१०४—आर्य समाज के विद्वानों की यह भी मान्यता है कि जैन लोग अनादि ईश्वर जगतकर्ता और वेदों के न मानने से ही नास्तिक कहे जाते हैं। इत्यादि।

सो अनादि ईश्वर इसी कारण माना गया है कि वह महाप्रलय अर्थात् समस्त संसारी जीवों का संहार करता है और उसके पश्चात (मुखादग्निरजायत) बाजीगर की भांति सृष्टि को उत्पन्न करता है। सो यह कथन सब प्रलापमात्र है क्योंकि जो सृष्टि का संहार अर्थात् नाश करता है वह हिंसक होने से ईश्वर कदापि नहीं हो सकता है। और वेद भी असंभवादि दोष व हिंसा के विधायक होने से माननीय नहीं हो सकते हैं। अब आप बतलावें कि जिनका ईश्वर व वेद किसी भी प्रकार निर्दोष सिद्ध नहीं—नास्तिक उनको कहना चाहिये या जैनियों को? लिखिये।

१०४—हम पहिले भी कई बार लिख आये हैं कि प्रलय का उद्देश्य, भोग देने वाले प्रकृति मण्डल की क्षीण हुई शक्ति का पुनः प्रादुर्भाव करना और लम्बे काल से थके हुए प्राणियों को विश्राम देना है। ऐसी अवस्था में प्रलय एक दयालुता का कार्य सिद्ध होता है हिंसा का नहीं।

अग्नि की सृष्टि भगवान् के मुख्य गुण ज्ञान-द्वारा प्रकृति के मुख्य भाग से हुई है न कि भगवान् से। क्योंकि भगवान् तो निराकार होने से शरीर रहित हैं। वेदों में न कहीं हिंसा दोष है और न असम्भव दोष। (असम्भव दोष हम आपके ग्रन्थों में कई स्थानों पर दिखला आये हैं अब और लीजिये)

रत्नसार भाग पृष्ठ ११६ में लिखा है कि ऋषभदेव का पाच सौ धनुष लम्बा शरीर था और चौरासी लाख वर्ष की उनकी आयु थी। इसी प्रकार और तीर्थङ्करों के भी शरीर और आयु के परिमाण लिखे हैं क्या ये सभव है ?। नागार्जुन ने ग्राम जितनी बड़ी एक शिला अगुली पर रखली। (कल्प भाष्य पृ० ४) महावीर ने अगूठे से पृथिवी को दबाया और शेषनाग काप गया। कौन सा शेषनाग ?। क्या वही शेषनाग जिसके बारे में अज्ञान काल की यह प्रसिद्धि है कि उसने पृथिवी को उठाया हुआ है। श्रीमान जी खगोल विद्या का अध्ययन कीजिये पृथिवी का गोला तो आकर्षण बल से आकाश में ठहरा हुआ है इसे शेषनाग ने नहीं उठाया हुआ। हा तो बताइये क्या ये बाते सभव हैं ?।

महावीर को साप ने काटा और खून के बदले दूध निकला और साप आठवे स्वर्ग को गया। (कल्प भाष्य पृ० ४६) वह आठवा स्वर्ग कौनसा है, इगलैण्ड, जर्मनी या अमेरिका ? अथवा इस पृथिवी पर नहीं, कहीं और है ?। क्या ये बाते सभव हैं ?। इस दृष्टान्त से शिक्षा तो अच्छी मिलती है। महा पुरुषों को चक मारो और सीधे स्वर्ग को जाओ। यदि इस शिक्षा पर सारे जैनी आचरण करना आरम्भ कर दे तो बेचारे जैन साधुओं को कहीं ऐसी जगह जाकर ही शरण लेनी पड़ेगी जहा कोई जैनी न हो।

आप अपनी अहिसा का भी एक और नमूना पढ़िये।

एक दमदार जैन साधु ने क्रोधित होकर उद्वेग जनक सूक्त पढ कर एक शहर मे आग लगा दी। यह साधु भगवान महावीर का बहुत प्यारा था। (विवेकसार भाग १ पृ० १४) कितने निरपराध जीव जले होंगे ?। कैसी बढिया अहिंसा है ?। और फिर तीर्थङ्कर के प्यारे के ये चमत्कार है, साधारण व्यक्ति के नहीं।

सब जगत् के पालक पोषक, सर्वज्ञ और परम उपकारक ईश्वर को न मानने वाला और ऐसे असम्भव उपदेशों तथा उपदेष्टाओं को मानने वाला ही नास्तिक हो सकता है और कौन।

१०६—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४३६ मे लिखा है कि "यह

(सप्तभंगी का) कथन एक अन्योऽन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है फिर इतना प्रपञ्च बढ़ाना किस काम का है" इत्यादि। सो वस्तु भेद व साधर्म्य की अपेक्षा से यदि अन्योऽन्याभाव मान लिया जाय तो जहां एक ही वस्तु में जब कि दो विरोधी धर्म हो तब आप उस विरोध की निवृत्ति किस प्रकार कर सकते हैं जैसा कि एक जगह पर (अपाणिपाद । श्वेताश्वतरोपनिषद । ३-१६) अन्यत्र (सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात् यजुर्वेद ३१-१) एक श्रुति कहती है कि ईश्वर के हाथ पैर नहीं हैं। और द्वितीय में लिखा है कि उस ईश्वर के हजारों ही शिर पर हैं—वे एक दूसरे के विरुद्ध है। और (अणोरणीयान् महतो महीयान्) श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-२० ॥ ईश्वर कैसा है छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है। देखिये एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्म पाये जाते है। और देखिये (तदेजति तन्नैजति) यजुर्वेद ४०-५। वह कांपता है और वह नहीं कांपता—ये दोनों भी एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अब आप कृपा कर यह बतलावे कि अन्योऽन्याभाव द्वारा इस विरोध की निवृत्ति किस प्रकार करेंगे। और विरोध की निवृत्ति नहीं करेंगे तो श्रुति की अप्रमाणता भी सिद्ध होगी और अपेक्षा से आप सिद्ध करेंगे तो उपर्युक्त वाक्य आपके मिथ्या सिद्ध होंगे। और सप्तभंगी न्याय वेदों का सहायक होने से प्रपच के अतिरिक्त स्वयं प्रमाण भूत सिद्ध हो जायगा। लिखिये सप्तभंगी के प्रपच होने में क्या प्रमाण है ?

१०६—अन्योन्याभाव से ही आपके सप्तभंगी न्याय का काम चल सकता है। जब आप कहते हैं कि घट पट रूप से असत् है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि घट में पट का अन्योन्याभाव है। इसी भाव को "घट पटो न" इन शब्दों से प्रकट कर सकते हैं। यहां घट में घटत्व और भावत्व धर्म हैं। और अभावत्व धर्म अन्योन्याभाव में है। इस प्रकार भावत्व और अभावत्व दोनों धर्मो के आधार भिन्न २ हैं, अत इनका परस्पर कोई विरोध नहीं। इसी विश्लेषण के अनुसार स्यादस्ति और स्यान्नास्ति इन वाक्यों का भी

विश्लेषण सिद्ध है। आपके सारे ही सप्तभङ्गीन्याय का यह प्रथम वाक्य आधार है और यह अन्योन्याभाव से अर्थसिद्ध है अत सप्त भगी की यह ही दशा समझिये।

आपने लिखा है कि वेद में ईश्वर को अपाणिपाद लिखा है। और दूसरी जगह (सहस्रशीर्षा सहस्रपाद् लिखा है। इस लिये इस विरोध को सगत करने के लिये सप्तभगी चाहिये। श्रीमान् जी यहा विरोध नहीं हैं। सप्तभगीन्याय ने आपकी दृष्टि में विरोध को जन्म दे दिया है अत आप सर्वत्र विरोध ही देखते हैं। जब कि ईश्वर को (अपाणिपाद) कहा गया है तो निराकार होने से उसके हाथ हैं न पैर हैं यह स्पष्ट सिद्ध है। और जब उसे 'सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात्" कहा गया तो यहा सहस्र शब्द अनन्त अर्थ में आया है अत भाव यह हुआ कि भगवान् में अनन्त शिरों अनन्त नेत्रो और अनन्त पैरों की शक्ति है। शिर नेत्र पैर आदि ज्ञान और क्रिया के साधन हैं और उपनिषदों में भगवान् के लिये कहा गया है ("स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च") भगवान् को ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक हैं। इस लिये अग न होते हुए भी भगवान् में इन अगों के कार्यकरण की सब शक्तिये स्वभाव से विद्यमान हैं। अत यहा दोनों वाक्यों में कोई विरोध है ही नहीं। "अणोरणीयान्" और "महतो महीयान्" ये दोनों वाक्य भी परस्पर विरुद्ध नहीं। अणोरणीयान् का अर्थ है सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थात् अदृश्य। और महतो महीयान् का अर्थ है बडे से बडा अर्थात् सर्वव्यापक। अत इन दोनों वाक्यों में भी कोई विरोध नहीं जो अदृश्य है वह सर्वव्यापक हो सकता है। तीसरा वाक्य आपने लिखा है "तदेजति तन्नैजति" यहा भी आप अर्थ नही समझे। यह पहिली एजति क्रिया अन्तर्गर्भित एयर्थ है और उसका अर्थ है कपाना=गति देना। और दूसरी का अर्थ है कापना हरकत करना। उसके साथ 'न का समन्वय होने पर गति न करना अर्थ हो जाता है। इन दोनों वाक्यों का समुदित अर्थ हुआ कि वह औरों को गति देता है, आप नहीं हिलता। अब आप अनुभव करेंगे कि यहा आपके सप्तभगी न्याय की कोई आवश्यकता

नहीं है। हां मुझे आपके शास्त्र का दृष्टान्त याद आ गया सम्भवत आपको वहां इसकी आवश्यकता पड़े। आप अपने आदि तीर्थङ्कर सर्वज्ञ भी मानते हैं और एक देशी भी। और एक देशी का ज्ञान सीमित होना चाहिये, अत वह अल्पज्ञ सिद्ध होता है। इस प्रकार आपके भगवान् अल्पज्ञ भी सिद्ध हुए और सर्वज्ञ भी। यहां एक अधिकरण में विरुद्ध धर्म सिद्ध होते हैं। इस विरोध को निवारण करने के लिये सप्तभंगी न्याय भी समर्थ नहीं हो सकते। अत सप्त-भंगी की यहां भी कोई आवश्यकता नहीं। प्राचीन आचार्यों के अभ्युपगत प्रमाण ही अर्थ सिद्धि के लिये पर्याप्त हैं आवश्यकता का अभाव ही सप्तभंगी के प्रपञ्च होने में प्रमाण है।

१०७—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ७० में लिखा है—(प्रश्न) तुम्हारा मत क्या है? (उत्तर) वेद अर्थात् जो २ वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उस २ का हम यथावत् करना व छोड़ना मानते हैं। जिस लिये वेद हमको मान्य है इस लिये हमारा मत वेद है। और आर्यसमाजी विद्वान् भी लिखित शास्त्रार्थ में यही लिखा करते हैं कि जो बात वेदानुकूल होगी उसी को हम मानेंगे—विरुद्ध को नहीं। अब हम आर्यसमाजी विद्वानों से सानुरोध पूछते हैं कि सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ६६ में जो पंच महा-यज्ञ के मन्त्र लिखे हैं वे किस वेद के हैं और वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

(अथ देवतर्पणम्)

ओ३म् ब्रह्मादिदेवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्। इतिदेवतर्पणम्।

(अथ ऋषि-तर्पणम्)

ओ३म् मरीच्यादयऋषय स्तृप्यन्ताम्। मरीच्यादिऋषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। मरीच्यादिऋषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्यादिऋषिगणास्तृप्यन्ताम्। इति ऋषितर्पणम्।

(अथ पितृ-तर्पणम्)

ओ३म् सोमसद पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ता पितरस्तृप्यन्ताम्।

बर्हिषद पितरस्तृप्यन्ताम् । सोमपा पितरस्तृप्यन्ताम् । हविर्भुज पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपा पितरस्तृप्यन्ताम् । सुकालिन पितरस्तृप्यन्ताम् । यमादिभ्यो नम यमादींस्तर्पयामि । पित्रेस्वधा नम पितर तर्पयामि । पितामहाय स्वधा नम पितामह तर्पयामि । प्रपितामहायस्वधा नम प्रपितामह तर्पयामि । मात्रे स्वधा नमो मातर तर्पयामि । पितामह्यैस्वधा नम पितामहीं तर्पयामि । प्रपितामह्यैस्वधा नम प्रपितामहीं तर्पयामि । स्वपत्न्यै स्वधा नम स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्य स्वधा नम सम्बन्धिनस्तर्पयामि । सगोत्रेभ्य स्वधा नम सगोत्रांस्तर्पयामि । इति पितृतर्पणम् ।

(वैश्व देव)

ॐ अग्नये स्वाहा । सोमाय स्वाहा । अग्नीषोमभ्यां स्वाहा । विश्वेभ्यो देवेभ्य स्वाहा । धन्वन्तरये स्वाहा । कुह्वै स्वाहा । अनुमत्यै स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा । सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । स्विष्टकृते स्वाहा । इति होममन्त्र ।

(पाकबलि मन्त्र)

ॐ सानुगायेन्द्राय नम । सानुगाय यमाय नम सानुगाय वरुणाय नम । सानुगाय सोमाय नम । मरुद्भ्यो नम । अद्भ्यो नम । वनस्पतिभ्यो नम । श्रियै नम । भद्रकाल्यै नम । ब्रह्मपतये नम । वास्तुपतये नम । विश्वेभ्यो देवेभ्यो नम । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नम । नक्तचारिभ्यो भूतेभ्यो नम । सर्वात्मभूतये नम । इत्यादि ।

आर्यसमाजी विद्वान् मूल चार संहिताओं को ही ईश्वरप्रणीत तथा स्वत प्रमाण मानते है और इन्हीं के अनुसार करना व छोडना मानते हैं इस लिये देव ऋषि, पितृ तर्पण, होम और पाकावलि के मन्त्रों को चार संहिताओं के अनुसार सिद्ध करके दिखलावे । अन्यथा प्रमाण कदापि नहीं माना जायगा ।

१०७—ऋषि दयानन्द ने वेदानुकूल विचारों को प्रमाण और वेद विरुद्ध विचारों को अप्रमाण माना है । जो आर्षवाक्य देव आदि तर्पण और वैश्वदेव आदि के लिये लिखे गये हैं वे सब

जगत् कल्याण और परोपकार भावना को प्रकट कर रहे हैं। अत इनमे कोई भी वेद विरोधी भाव नहीं। फलत ये वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं) ऋषि उन स्मृति ग्रन्थों को भी जो कि वेदानुकूल हैं प्रमाण मानते है। यद्यपि इन ग्रन्थों के श्लोक वेद मन्त्र नहीं है वेदानुकूल ऋषि वाक्य भी प्रमाण है।

१०८—सत्यार्थप्रकाश ४८४ पृ० मे लिखा है कि बौद्ध और जैनी लोग सप्तभंगी और स्याद्वाद मानते है इत्यादि। सो आज तक किसी भी वैदिक ऋषि ने ऐसा असत्य वचन नहीं लिखा कि बौद्ध लोग सप्तभंगी व स्याद्वाद को मानते हैं। यदि आप इस सत्यार्थ प्रकाश के लेख को सत्य समझते है तो लिखिये।

१०८—कोषकार ने जिन और बुद्ध को पर्याय माना है। और जिनका मत स्याद्वाद है अत बुद्ध का भी मत सुतरां स्याद्वाद हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि कोषकार के समय मे बुद्ध और जिन एक ही माने जाते थे। यह वर्तमान विश्लेषण बाद मे शिष्य वर्ग ने किया होगा। जो कुछ भी हो ऋषि का यह उल्लेख अमरकोष के आधार पर है बिना प्रमाण के नहीं। यह ही नहीं बल्कि दीप वंश नामक बौद्ध ग्रन्थ मे शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को महावीर के नाम से लिखा है। आज कल बौद्ध और जैन मत पृथक् पृथक् प्रचलित हैं इसलिए इनका पृथक् २ उल्लेख करते हुए खण्डन भी ऋषि दयानन्द ने किया है। इन प्रमाणों के आधार पर लिखा गया लेख अप्रामाणिक नहीं हो सकता।

१०६—सत्यार्थ प्रकाश ४४७ पृष्ठ में लिखा है कि पुराणियों का योजन चार कोस का परन्तु जैनियों का योजन दश सहस्र का होता है इत्यादि।

सो स्वामी दयानन्द जी को जैनधर्म का खण्डन ही अभीष्ट था इसी कारण निराधार जो मन मे आया सोई लिख मारा यदि आप इस मिथ्याथ प्रकाश के लेख को सत्य समझते हैं तो आर्ष ग्रन्थ के आधार सहित लिखिये।

१०६—श्रीमान् जी ऋषि दयानन्द ने आप के साथ बड़ी

रिआयत की है कि आप का योजन इतना छोटा लिख दिया है। आप की काल गणना के अनुसार तो वह बहुत लम्बा होना चाहिये था। क्यों कि सनातनियों की काल गणना में ६० विपल का एक पल और साठ पल की एक घडी मानी गई है। और आपके यहा असख्यात समयों की १ आवलि और एक करोड़ सतसठ लाख सत्तर हजार दो सौ सोलह आवलियों का एक मुहुत माना गया है। इस प्रकार सनातनियों का काल अधिक से अधिक साठ की सख्या से आरम्भ होता है और आप का असख्यात सख्या से। आप के असख्यात पद के भाव को हम आप के ही मान्य ग्रन्थों से पहिले स्पष्ट कर ही आये हैं। अब जब कि आप की आरम्भिक पल गणना ही असख्यात पद से आरम्भ होती है आप ही बतलाये आप का योजन कितना बड़ा होना चाहिये। और यह उक्ति भी ऋषि की इसीलिये आक्षेप रूप में है। जहा उन्होंने योजनों से आप के आयु आदि काल की गणना की है वहा चार कोस के ही योजन का हिसाब लगाया है।

११०—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२४ में लिखा है कि जगत की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल, और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत की उत्पत्ति होती। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत भी न हो इत्यादि। इस लेख में पाच अनादि पदार्थ बतलाते हुए लिखा है कि—यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत भी न हो। और सत्यार्थ के मन्तव्य ६ में लिखा है कि अनादि पदार्थ तीन हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। अब इस मन्तव्य ६ में पाच अनादि पदार्थों के अतिरिक्त तीन ही अनादि पदार्थ लिखे हैं। काल और आकाश को अनादि नहीं लिखा इस लिये पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार पाच पदार्थ अनादि न होने से इस जगत की उत्पति होना सर्वथा असम्भव है। अब आप बतलावे कि जो आपने पाच अनादि पदार्थ लिखे हैं उन्हें आप वेद के किन प्रमाणों से सिद्ध करते हैं और यह सत्यार्थ प्रकाश वेद के अनुकूल है या प्रतिकूल जरा प्रमाण सहित लिखें।

११०—ऋषि ने जहा ईश्वर जीव और प्रकृति को अनादि लिखा है वहा सृष्टि निर्माण के विशेष कारणों का उल्लेख है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, जीवों के कर्म फल भोग के लिये सृष्टि की रचना होती है, और ईश्वर जीवों के कर्म फलानुसार भोगने के लिये इस सृष्टि के रचयिता होने से कर्ता हैं। इस लिये तीनों ही जगत् की उत्पत्ति में विशेष कारण हैं। आकाश और काल आधार रूप से साधारण कारण हैं। इस लिये जहा सृष्टि के विशेष कारणों का उल्लेख करना होता है वहा तीनों का ही नाम लिया जाता है। और जहा साधारण तथा विशेष दोनों प्रकार के कारण विवक्षित होते हैं वहा पाचों का उल्लेख किया जाता है। अत इन दोनों लेखों मे कोई विरोध नहीं है। इन विशेष कारणों का उल्लेख वेद में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्य' पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (ऋ म १ सू १६४ म २०) इस मत्र में भोग्य प्रकृति, भोक्ता जीव, और कर्मफल दाता ईश्वर, रूप से उल्लख है। ये तीनों कारण अनादि हैं। "ओंख ब्रह्म" इस यजुर्वेद के अन्तिम मन्त्र के वाक्य में ब्रह्म को आकाश की तरह व्यापक बतलाते हुए उसे ब्रह्म की भाति ही नित्य घोषित किया है। "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्व मकल्पयत्" (परमात्मा ने सूर्य और चन्द्रमा को इस सृष्टि में पहिले की भाति बनाया। इस कथन से इन तीनों अवस्थाओं में काल की सत्ता होने से वह नित्य सिद्ध होता है। एक प्रलय से पहिले सृष्टि काल जिसे कि यहा पूर्व शब्द से कहा गया है, दूसरा प्रलय काल और तीसरा वर्तमान सृष्टि का काल इन तीनों ही स्थितियों में अन्य पदार्थो का निर्माण दिखलाते हुए भी काल में कोई परिवर्तन नहीं दिखलाया और काल दिखलाया गया है अत काल भी अनादि और नित्य सिद्ध होता है। यह सब कुछ होते हुए भी विशेष कारण ईश्वर जीव और प्रकृति का ही सर्वत्र अनादि पद से ग्रहण किया है। सामान्य कारण होने से आकाश और काल का नहीं।

१११—सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३३२ में लिखा है कि "(प्रश्न) मूर्ति पूजा कहां से चली (उत्तर) जैनियों से (प्रश्न) जैनियों ने कहां से चलाई (उत्तर) अपनी मूर्खता से" इत्यादि। जो विद्वान् वेदानुकूल करने वा छोड़ने की प्रतिज्ञा लिख कर भी उसके विरुद्ध कार्य करता है वास्तव में मूर्ख उसको ही कहना चाहिये। और आर्यसमाजी विद्वान् ईश्वर को निराकार २ ही बताया करते हैं परन्तु वह निराकार ही नहीं बल्कि साकार भी है। जैसा कि यजुर्वेद में लिखा है (सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्) ३१-१। (मुखादग्निरजायत। चक्षो सूर्यो अजायत) यजु० ३१-१२। (सर्वत पाणिपाद तत्सर्वतो ऽक्षि शिरोमुखम्। सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति) श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-१६। और जब कि ईश्वर वेदानुकूल साकार भी सिद्ध है तब उसकी मूर्त्तिया क्यों नहीं हो सकती हैं। और वेद में मूर्ति निर्माण वा प्राण प्रतिष्ठा के मन्त्र भी उपस्थित हैं। यदि आप तीन महावीर मूर्तियों के स्थान मे तीन यज्ञ पात्रों को सिद्ध करेंगे तो अन्य यज्ञपात्र वेद विरुद्ध होने से मिथ्या सिद्ध हो जावेंगे। और जब कि ईश्वर साकार, मूर्ति निर्माण तथा प्राण प्रतिष्ठा के वेद मन्त्र उपस्थित हैं तब मूर्ति पूजा सिद्ध होने में सन्देह ही क्या है ? अब आप बतलावे कि वास्तव में मूर्खता किसकी ? जैनियों की या स्वा० की। जरा प्रमाण सहित लिखिये।

नोट—इस प्रश्नावली के प्रत्येक प्रश्न के साथ उत्तर प्रमाण सहित ही मागा है। क्योंकि आर्य समाजी विद्वान् उत्तर प्रमाण सहित नहीं देते केवल युक्तिया ही बनाया करते हैं और प्रमाण लिखने पर भी चाहे अर्थ कुछ भी बदले परन्तु असली बात का पता सहज ही लग जाता है। इसलिये प्रत्येक प्रश्न के साथ उत्तर प्रमाण सहित मागना अनुचित नहीं है।

११२—आप के पूज्य तीर्थङ्कर सिद्धशिला के उस पार अलोकाकाश में हैं। मुक्त होने के कारण आप के ही सिद्धान्त के अनुसार लोकाकाश में वे आ ही नहीं सके। और आप उनकी पूजा करने के लिये मूर्त्तिये बनाते है। यहा क्या आप बतलाएगे कि

आप ये गन्ध किसको सुँघाते हैं, मिष्टान्न किसको खिलाते हैं, दीपक किसको दिखाते है और भूषण तथा कपड़े किसको पहिनाते हैं। मूर्ति को या अपने इष्टदेव को। यदि मूर्ति को तो मूर्ति तो जड़ होने के कारण इन चीजों को ग्रहण नहीं करती फिर उसको ये चीजे देना बुद्धिमता है या क्या। और यदि आप कहें कि हम ये चीजे तीर्थङ्करों की भेट चढ़ाते हैं तो वे महा पुरुष तो मुक्त होकर अलोकाकाश में अपने आनन्द में निमग्न हैं न उन्हे आप की इन चीजों की आवश्यकता है और न ये चीजे उनके पास वहा पहुच सकी हैं। और वे स्वय भी यहा नियमानुसार आ नहीं सके। फिर यह सब कुछ जानते हुए भी आप ये चीजे उनकी भेट चढ़ाते हैं तो कृपया बतलाइये कि आपकी यह क्रिया बुद्धिमता से युक्त है या नहीं। और यदि ऋषि दयानन्द ने स्पष्टवादी होने के कारण इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों से घोषित कर दिया तो क्या बुरा किया। आपका हित ही तो उनके इस कथन के समय उनका ध्येय था।

ऋषि दयानन्द ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आचरण से वाणी से और लेख से सदा वेदों का ही अनुसरण किया है। इस विषय के कितने ही दृष्टान्त इन प्रश्नों के उत्तरों में यथा स्थान हम दे आये हैं।

आप यह जानते हुए भी कि वेद एक सर्वव्यापक निराकार ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, अपने मन की भावनाओं से प्रेरित होकर, वेद मन्त्रों से साकार ईश्वर के प्रतिपादन की असफल चेष्टा कर रहे हैं। जो मन्त्र आपने इसके लिये दिये हैं उनके भाव हम यद्यपि पहिले प्रश्नों के उत्तरों में प्रकट कर आये हैं तथापि आप के सुभीते के लिये यहा फिर लिखे देते हैं। "सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्ष सहस्रपात्' (ईश्वर के हजार शिर, हजार आखे, और हजार पेर हैं) इस वेद मन्त्र से आप ईश्वर को साकार सिद्ध करना चाहते है।

इन मन्त्रों को मूर्तिवाद के लिये उपस्थित करते हुए आप यह तो सोच लेते कि यदि मूर्ति का प्रतिपादन ही यहा अभीष्ट होता तो

हजारों के साथ दो हजार आंखे और दो हजार पैर लिखे जाते और यहां ऐसा है नहीं अत इस लेख का तात्पर्य कुछ और होगा परन्तु आप ऐसा करते क्यों। आप तो अज्ञान से गले पड़ी हुई अपनी मूर्ति पूजा क लिये वेदों में भी प्रमाण ढूँढने की भावना स पढ़ रहे थे। अत भावना का फल झूठा या सच्चा जो कुछ मिलना चाहिये था वह आप को मिल गया। इस मन्त्र का भाव आगे पढ़िये और अपने विचारों में सशोधन कीजिये।

यहा सहस्र शब्द का अर्थ अनन्त है। अत —अनन्त शिरों में जो विज्ञान शक्ति, अनन्त आखों मे जो दर्शन शक्ति और अनन्त पैरों में जो गति शक्ति है उन सब शक्तियों का सग्रह भगवान् में है। "मुखादग्निरजायत, चक्षो सूर्यो अजायत" इन वाक्यों का तात्पर्य है कि भगवान् की सामर्थ्यरूप प्रकृति क मुख्य भाग से अग्नितत्व की और दर्शन साधन भाग से सूर्य की उत्पत्ति हुई।

"सर्वत पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षि शिरो मुखम्,
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।"

इसका भाव यह है कि भगवान् की—हाथ, पैर, नेत्र, मुख और कान आदि से होने वाले कार्यों को सम्पादन की शक्ति, सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि वह स्वय सर्वत्र व्यापक है। आप जरा यह तो सोच लेते कि यह उपनिषद्कार जिस ईश्वर को "सर्वमावृत्य तिष्ठति" (सर्वव्यापक) कह रहा। और इसीलिय उसकी उपरोक्त शक्तियों को सर्वत्र विद्यमान बतला रहा है क्या यह किसी एक देशी साकार मूर्ति का प्रतिपादन कर रहा है। परन्तु आपका क्या अपराध। पत्थर की पूजा करते २ उसके रग में रगी हुई आपकी बुद्धि ऐसा ही सोचने के लिये आपको विवश कर देती है। मूर्ति निर्माण तथा प्राण प्रतिष्ठा का प्रतिपादक वेद में कोई मन्त्र नहीं। आपने भी प्रतिज्ञामात्र की है इसके लिये प्रमाण कोई नहीं दिया। आपका अपराध भी क्या है प्रमाण कोई होता तो देते। और हमें भी आप से सहानुभूति है कि प्रमाण न होते हुए भी विरोध की धुन में आप कुछ न कुछ लिखने के लिये विवश हो जाते हैं।

टाइटल का कागज रामलाल कपूर एण्ड सन्स से कण्ट्रोल रेट पर प्राप्त हुआ।

प्रकाशक—महाशय कृष्ण मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर।
मुद्रक—विश्वनाथ एम० ए० दी आर्य प्रैस लिमिटिड, १७ मोहनलाल रोड लाहौर